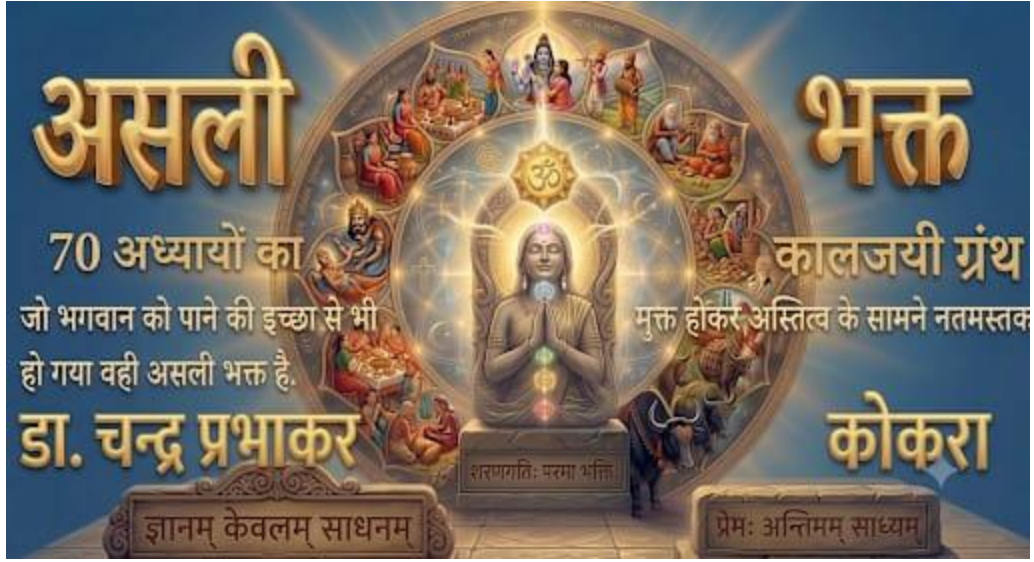




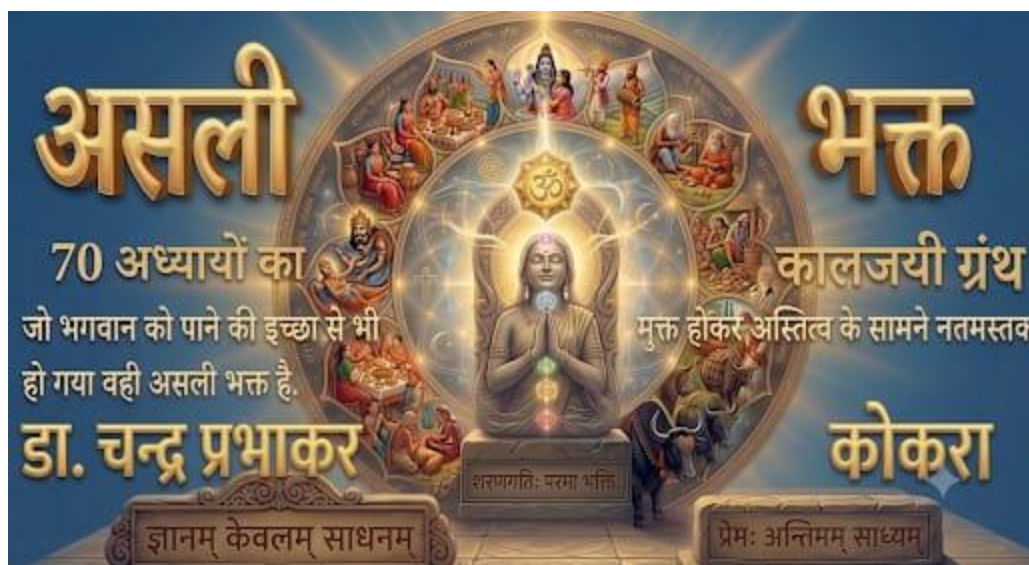
अनुक्रमणिका

क्र.अ. विषय दर्पण

- 1 भय वासना और निष्काम भावना का सत्य
- 2 जब तक मांग भक्त नहीं
- 3 अहंकार का विसर्जन
- 4 चूल और चक्की
- 5 शिकायत रहित स्थिति
- 6 धारणाओं का भ्रम
- 7 मोक्ष का भ्रम
- 8 दुख की भट्टी
- 9 भावनाओं से परे
- 10 शास्त्रों की सीमा
- 11 रंग मंच और जीवन
- 12 अंतिम परीक्षा
- 13 अनंत शून्य
- 14 निर्विचार स्थिति
- 15 भ्रम का अन्त
- 16 शून्य का शून्य
- 17 प्रकृति का विधान
- 18 सामाजिक नियमों का यथार्थ
- 19 संवेदनाएँ, जीवन

- 20 सहज ठहराव
- 21 प्रयास रहित स्थिति
- 22 सहज द्रष्टा
- 23 संसार का चक्र
- 24 अपरिमेय आकाश
- 25 शरीर का क्षय
- 26 सबके बीच अचल एकांत
- 27 अ-प्रतिक्रिया
- 28 परम सादगी
- 29 शब्दों की सीमा
- 30 सुन्दर कर्म
- 31 जीवन का खेल
- 32 अनुभूतियों से परे
- 33 परम स्वायत्तता
- 34 अजन्मा साक्षी
- 35 निष्कल्प 'सत्य
- 36 अहेतुक अस्तित्व
- 37 त्रिकाल का दृष्टा
- 38 निर्दोष 'चेतना '
- 39 मोक्ष से पार
- 40 सहज जीवन
- 41 शब्द रहित चेतना
- 42 शास्त्र और संसार
- 43 परम समर्पण
- 44 अशांत मन
- 45 सहज उत्सव
- 46 आकाश तुल्य साक्षी
- 47 स्मृति का चित्र
- 48 मृत्यु का दर्शन
- 49 काल्पनिक सहारा
- 50 काल्पनिक ईश्वर
- 51 शब्दों की करुणा
- 52 ज्ञाता ज्ञेय से परे
- 53 प्रकृति के कर्म
- 54 भीड़, एकान्त, साक्षी

- 55 अनंत आकाश
- 56 साक्षी की उपस्थिति
- 57 देह के प्रयास
- 58 आत्मवान स्थिति
- 59 संसार का रंगमंच
- 60 जीवन मुक्त
- 61 संसार का खेल
- 62 अजन्मा अमर
- 63 देह का क्षय
- 64 तथाता भाव
- 65 तथाता और अद्वैत
- 66 प्रकृति की लीला
- 67 काल्पनिक जाल
- 68 सुख शान्ति की खोज
- 69 खालीपन और भरेपन
- 70 सहज जीवन और अन्तिम बोध



प्राक्कथन (Preface)

ग्रंथ-नाम: असली भक्त

मूल दृष्टि एवं तत्त्व-बोध: परम-साक्षी, तथाता एवं अद्वैत प्रकृति

1. ग्रंथ का उदय एवं पृष्ठभूमि

युगों-युगों से मानव-मन सत्य, शांति, मोक्ष और ईश्वर की खोज में भटकता रहा है। इसी खोज में असंख्य वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन, संप्रदाय और कर्मकांड रचे गए। पंडितों, ऋषियों और विचारकों ने मन की गुत्थियों को सुलझाने के अनेक यत्न किए। परंतु त्रासदी यह रही कि मनुष्य जिन साधनों और धारणाओं को 'मुक्ति' समझकर छाती से लगाता रहा, वे ही धारणाएँ कालंतर में उसके लिए नया बंधन, भय और भ्रम बनती चली गईं।

यह ग्रंथ—'असली भक्त'—साधारण धार्मिक मान्यताओं, भावुकताओं और पारंपरिक अवधारणाओं पर एक तीक्ष्ण, निर्भीक और साक्षात् प्रहार है। 70 गहन अध्यायों और खंड-दर-खंड तीखे प्रश्नों के इस महा-मंथन में, सत्य को किसी उधार ज्ञान या शास्त्रों की बैसाखी पर नहीं, बल्कि साक्षात् अनुभव और निष्कंप साक्षी-दृष्टि की कसौटी पर परखा गया है।

2. 'असली भक्त' का वास्तविक स्वरूप

संसार जिसे भक्ति कहता आया है—चाहे वह मीरा का भाव-विभोर होना हो, चैतन्य का कीर्तन हो, या किसी साधक द्वारा भगवान को पाने की तीव्र छटपटाहट हो—वह अंततः भावनाओं का ही एक अति-सूक्ष्म सागर है।

इस ग्रंथ का केंद्रीय और क्रांतिकारी यथार्थ यह उद्घाटित करता है कि "जो भगवान को पाने की इच्छा करता है, वह भी असली भक्त नहीं है।"

भगवान, मोक्ष, वैकुण्ठ या आनंद को पाने की इच्छा रखना भी सूक्ष्म रूप से एक 'इच्छा' ही है, जो अप्रत्यक्ष रूप से वर्तमान क्षण में घटित हो रहे 'अस्तित्व' का अनादर करती है। जब तक मनुष्य कुछ पाने या किसी को सुधारने की होड़ में है, तब तक वह मन के धरातल पर ही खेल रहा है।

'असली भक्त' वह है जो किसी विशेष अवस्था, सिद्धि या ईश्वर को ढूँढने की छटपटाहट से पूरी तरह मुक्त होकर साक्षी भाव में ठहर जाता है। इस साक्षी-स्थिति से 'तथाता भाव' (**Total Acceptance**) का सम्यक उदय होता है। जो है, जैसा है, जिस रूप में है—अस्तित्व के उस परम-विधान के सामने पूर्णतः नतमस्तक हो जाना और बिना किसी शिकायत के उसे स्वीकार कर लेना ही वास्तविक और 'असली भक्ति' है।

3. ग्रंथ का मूल सार एवं मुख्य तत्त्व

इस 70 अध्यायों के महा-ग्रंथ का निचोड़ निम्नलिखित परम-सत्य के स्तंभों पर अचल खड़ा है:

1. अकर्ता और अलिप्त साक्षी: साक्षी चेतना असीम, अजन्मा और अमर आकाश-तुल्य है। जैसे आकाश में बादल आते-जाते हैं, धूप-छाँव तैरती है,

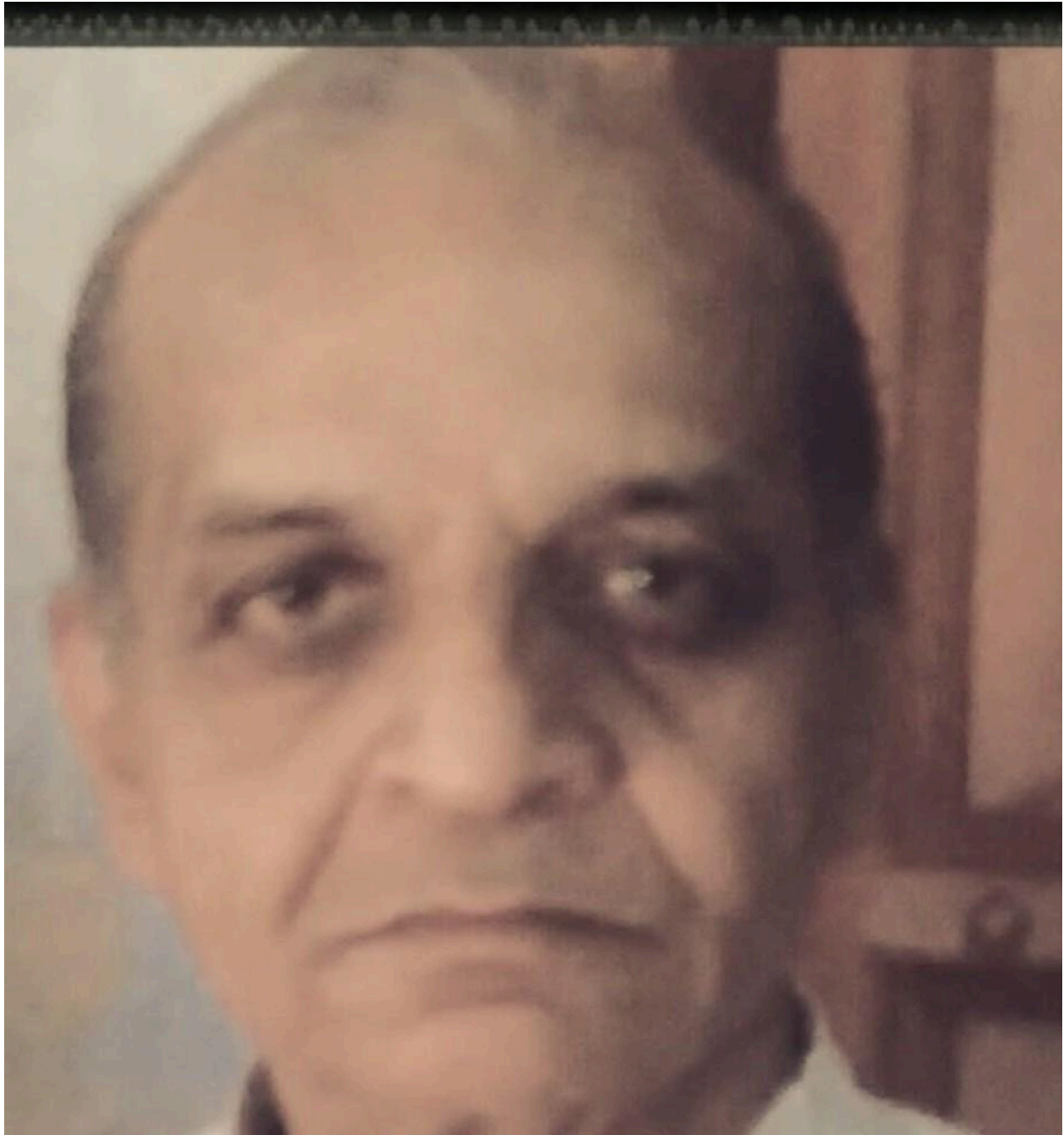
2. परंतु आकाश अछूता रहता है; वैसे ही मन के विचार, स्मृतियाँ, सुख-दुख, बुढ़ापा और देह के प्रयास साक्षी को कभी छू भी नहीं पाते। साक्षी पूरी तरह अकर्ता और निर्लेप रहकर केवल सब घटित होते देखता है।
3. प्रकृति की अद्वैत लीला: संसार में किसी की बुद्धि कम होना या ज्यादा होना, किसी का अच्छा होना या बुरा होना, पाप-पुण्य और कर्म—यह सब केवल प्रकृति के त्रिगुणों की सहज लीला है। तथाता भाव में पहुँचते ही 'भक्त' और 'भगवान', 'द्रष्टा' और 'दृश्य' के दो होने का भ्रम सदा के लिए मिट जाता है। जो है, वह केवल एक अखंड, अद्वैत 'प्रकृति' ही है।
4. काल्पनिक जालों का अंत: स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, मोक्ष के लालच, पाप-पुण्य के भय और 'सत्य-असत्य' की सामाजिक परिभाषाएँ केवल भयभीत मन का काल्पनिक जाल हैं। साक्षी में स्थित पुरुष के लिए संसार की हर घटना केवल एक निष्कंप 'लीला' मात्र है।
5. परम-सिद्धि और सहजता: विशेष होने, गुरु बनने, ज्ञान बाँटने या चमत्कार दिखाने के सारे दावे व्यर्थ हैं। साक्षी भाव में टिककर, जीवन में आने वाली हर परिस्थिति के प्रति अलिप्त रहते हुए, अपनी जीवन-यात्रा को सहजता और निष्कंपता से पूरा कर लेना ही 'परम-सिद्धि' और 'अंतिम बोध' ही सत्य है।

असली भक्त

यह ग्रंथ किसी नए पंथ, संप्रदाय या शास्त्र की स्थापना नहीं करता, बल्कि यह तो हर प्रकार के वैचारिक बोझ, शास्त्रों के विवाद और मानसिक द्वंद्वों को विलीन करके मनुष्य को उसके अपने नित्य-सिद्ध, अचल और शांत स्वभाव में विश्राम देता है।

'असली भक्त' का यह 70 अध्यायों का पूर्ण संकलन उन मुमुक्षुओं और शोधकर्ताओं के लिए कालजयी आलोक-स्तंभ बना रहेगा जो शब्दों की भूलभुलैया से निकलकर यथार्थ के निष्कंप प्रकाश में ठहरना चाहते हैं।

"तथाता भाव में दो का कोई अस्तित्व नहीं। भक्त और भगवान का भेद मिटकर केवल अद्वैत प्रकृति ही शेष रह जाती है। अपनी जीवन-यात्रा को सहजता से पूरा कर लेना ही परम-सिद्धि और अंतिम बोध है।



डा. चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

25 जुलाई 1942 को जन्मे भिवानी(हरियाणा) के लेखक एवं शोधकर्ता की यह 29 वीं कृति "असली भक्त" मानवता और शांति के प्रसार के लिए समर्पित है। bhajansamratchandra.com पर उपलब्ध है। डिजिटल साहित्य यह सिद्ध करता है कि ज्ञान की ज्योति के लिए न तो आयु कोई बाधा है और न ही भौगोलिक सीमाएं। जिन्हें विश्व भर के जिज्ञासुओं द्वारा गूगल के माध्यम से सराहा जाता है। मातृभाषा हिंदी के संरक्षण और उत्थान हेतु सन 1957 के ऐतिहासिक आंदोलन में सक्रिय भागीदारी और कारागार में रहते हुए भी हिन्दी साहित्य के सृजन की उनकी लेखनी

कभी नहीं रुकी. विश्वास है कि समतामूलक संदेश को प्रसारित करती यह पुस्तक पाठकों के जीवन में वैचारिक स्पष्टता और आत्म-दीप्ति का प्रकाश अवश्य फैलाएगी।

-चन्द्र प्रभाकर कोकड़ा

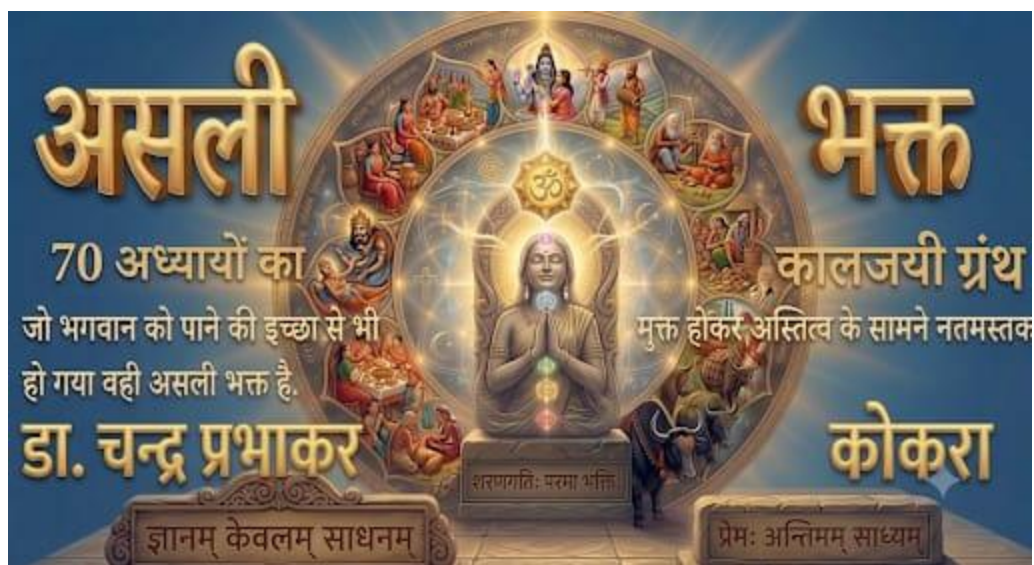
बिचला बाज़ार, भिवानी -127021(हरियाणा)

मोबाइल: 999207503

संपूर्ण डिजिटल लाइब्रेरी के लिए स्कैन करें -

bhajansamratchandra.com





अध्याय 1

भय, वासना और निष्काम भक्ति का सत्य

संसार में भक्ति के नाम पर जो कुछ भी दिखाई देता है, उसका एक बहुत बड़ा हिस्सा या तो भय से संचालित होता है (पाप का डर, नरक का भय, विपत्ति का संकट) या वासना/कामना से (धन, स्वास्थ्य, मोक्ष, शांति या किसी इच्छा की पूर्ति)।

मनुष्य जब मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे या किसी भी साधना में बैठता है, तो प्रायः उसके पीछे कोई न कोई सौदेबाजी छिपी होती है।

"यदि किसी मनुष्य के जीवन से भय (हानि या दंड का डर) और वासना (पाप-पुण्य, सुख-दुख या मोक्ष की लालसा) को पूरी तरह निकाल दिया जाए, तो उसके पास ईश्वर या सत्य की ओर मुड़ने का क्या कारण बचता है?"

क्या बिना किसी फल की कामना के की गई 'निष्काम भक्ति' वास्तव में संभव है, या जब तक मनुष्य में 'मैं' (अहंकार) मौजूद है, तब तक हर भक्ति के पीछे कोई न कोई सूक्ष्म स्वार्थ छिपा ही रहता है?"

याचक बनाम भक्त (भय और वासना से परे का समर्पण)

1. वासना का गुलाम: याचक की मानसिकता

संसार में सामान्यतः जिसे 'भक्त' समझा जाता है, वह वास्तव में एक सौदागर या याचक (भिखारी) है।

- भय का खेल: जब मनुष्य पाप, दुख, बीमारी या किसी सांसारिक हानि से डरता है, तो वह ईश्वर की शरण में जाता है। यह समर्पण नहीं, केवल अपनी सुरक्षा की गुहार है।

- कामना का बाज़ार: जब मनुष्य सुख, धन, पुण्य या यहाँ तक कि 'मोक्ष' की लालसा लेकर बैठता है, तो वह भक्ति नहीं कर रहा होता, बल्कि अपनी वासनाओं की पूर्ति के लिए ईश्वर का उपयोग कर रहा होता है।
- सत्य: ऐसा व्यक्ति ईश्वर के प्रति नहीं, बल्कि अपनी इच्छाओं और परिस्थितियों के प्रति समर्पित है। परिस्थितियाँ बदलते ही उसकी तथाकथित 'भक्ति' डगमगा जाती है।

2. निष्काम स्थिति: जहाँ से भक्ति शुरू होती है

जब तक मन में कोई भी 'माँग' शेष है, तब तक भक्ति का जन्म ही नहीं हुआ।

- असली भक्त वह नहीं जो भगवान से कुछ माँगे, बल्कि वह है जो स्वयं को ही मिटा दे।
- निष्काम भक्ति कोई कर्म या अनुष्ठान नहीं है; यह मन की वह अवस्था है जहाँ व्यक्ति परिस्थितियों का गुलाम होना बंद कर देता है। जहाँ न कुछ पाने का हर्ष है, न खोने का भय।

3. इस अध्याय का निष्कर्षात्मक सत्य

"माँगना भिखारी का गुण है, भक्त का नहीं। जब तक माँग मौजूद है, तब तक केवल वासना का समर्पण है—परम सत्य का नहीं। जहाँ समस्त माँग समाप्त हो जाती है, केवल वहीं से असली भक्ति का प्रारंभ होता है।"

अध्याय 2

अध्याय 2 का प्रश्न:

जब तक माँग है, तब तक व्यक्ति भक्त नहीं बल्कि याचक है।

परंतु जब व्यक्ति माँगना छोड़ देता है, तो प्रायः उसे 'अंधी श्रद्धा' और 'विवेक' का भ्रम होने लगता है। धर्म के नाम पर अक्सर कहा जाता है कि भक्ति में अपनी बुद्धि, तर्क और विवेक को छोड़ देना चाहिए।

क्या बुद्धि और विवेक का त्याग करके अंधी श्रद्धा में डूबना असली भक्ति है? या फिर जागृत अवस्था में, पूर्ण होश और विवेक के साथ सत्य को देखना ही असली भक्त का लक्षण है?"

अंधश्रद्धा नहीं, जागृत विवेक

1. अंधी श्रद्धा की सीमा और भ्रम

संसार में बहुधा भक्ति के नाम पर बुद्धि और तर्क को बलि चढ़ा देने की बात कही जाती है। लेकिन जो श्रद्धा अज्ञान, डर या बिना देखे केवल मान लेने पर टिकी है:

- वह व्यक्ति को सत्य की ओर नहीं, बल्कि मूढ़ता और मानसिक गुलामी की ओर ले जाती है।
- ऐसी श्रद्धा परिस्थितियों के बदलते ही या तार्किक आघात सहते ही टूट जाती है।
- बिना विवेक की भक्ति केवल मन का छलावा (**illusion**) है, जहाँ व्यक्ति अपनी ही कल्पनाओं को ईश्वर मान बैठता है।

2. विवेक क्या है? सत्य का निष्पक्ष दर्शन

विवेक का अर्थ तर्क-वितर्क की बुद्धिमात्र नहीं है, बल्कि सत्य और असत्य, नित्य और अनित्य के अंतर को स्पष्ट देख लेने का 'जागृत भाव' है।

- जागृति ही भक्ति है: अज्ञान में सोए रहकर या आँखों पर पट्टी बांधकर की गई पूजा भक्ति नहीं है। जागृत अवस्था में रहकर, जीवन और स्वयं के यथार्थ को जैसा है वैसा ही देखना (साक्षी भाव) असली विवेक है।
- विवेक व्यक्ति को अंधविश्वास, भय और कर्मकांडों के चक्रव्यूह से बाहर निकालकर सीधे 'सत्य' के आमने-सामने खड़ा कर देता है।

3. इस अध्याय का निष्कर्षात्मक सत्य

"भक्ति विवेक की हत्या नहीं, बल्कि विवेक का परम प्रकाश है। जो बिना जाने, बिना देखे केवल मान लेता है, वह अंधभक्त है। परंतु जो जागृत होकर सत्य का दर्शन करता है और उस सत्य में ही लीन हो जाता है, वही असली और विवेकपूर्ण भक्त है।"

अध्याय 3

"एक व्यक्ति जब विवेकपूर्वक सत्य का दर्शन करता है, तब भी उसके भीतर एक सूक्ष्म भाव बचा रहता है—'मैं भक्त हूँ' या 'मैं सत्य को देख रहा हूँ'।

जब तक यह 'मैं' (अहंकार/द्वैत) बना हुआ है, तब तक भक्त और भगवान/सत्य दो अलग सत्ताएँ हैं।

असली भक्ति में इस 'मैं' का क्या होता है? क्या 'मैं' का पूरी तरह मिट जाना ही असली भक्ति है, या 'मैं' का समर्पित होना? और यदि यह 'मैं' (अहंकार) पूरी तरह विलीन हो जाए, तो फिर भक्ति करने वाला कौन बचता है?"

अहंकार का विसर्जन नहीं, भ्रम का अंत

1. 'मैं' का भुलावा और असत्यता

साधारण मनुष्य जीवन भर इस भ्रम में जीता है कि वह सब कुछ अपनी इच्छा से कर रहा है। परंतु सत्य यह है:

- न अपनी इच्छा से आना है, न अपनी इच्छा से जाना है।
- जिस जीवन का आना और जाना ही व्यक्ति के हाथ में नहीं है, वहाँ कर्ता होने का अहंकार केवल एक भ्रान्ति, एक भुलावा है।
- 'मैं भक्त हूँ' या 'मैं साधना कर रहा हूँ' कहने वाला अहंकार भी उसी भ्रान्ति का एक सूक्ष्म रूप है।

2. साक्षात दर्शन और 'मैं' का स्वतः लोप

अहंकार को किसी साधना या प्रयास से 'छोड़ना' नहीं पड़ता। जब जागृत अवस्था में सत्य का साक्षात दर्शन होता है:

- दर्शन करने वाले (द्रष्टा) और जिसके दर्शन हो रहे हैं (दृश्य) के बीच का फासला मिट जाता है।
- जब यह समझ आ जाता है कि पृथक 'मैं' का कोई वास्तविक अस्तित्व था ही नहीं, तो छूटने या पकड़ने का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है।

- जैसे प्रकाश आते ही अंधकार को भगाना नहीं पड़ता, वह केवल लुप्त हो जाता है; वैसे ही जागृति आते ही 'मैं' स्वतः गायब हो जाता है।
- "भक्ति अहंकार को मिटाने की कोई तरकीब नहीं है, बल्कि 'मैं' के अस्तित्वहीन होने का साक्षात् बोध है। जब 'मैं' का भुलावा समाप्त हो जाता है, तब न कोई भक्त बचता है, न कोई भगवान—केवल एक अनंत सत्य शेष रह जाता है।"

अध्याय 4

"संसार में दो तरह के लोग दिखाई देते हैं—

1. एक वह जो दिन-रात ईश्वर का नाम लेता है, मंदिर-पूजा या भक्ति का दावा करता है, लेकिन अपने व्यावहारिक, नैतिक और सामाजिक कर्तव्यों से मुंह मोड़ता है।
2. दूसरा वह जो ईश्वर का नाम नहीं लेता, लेकिन सत्य, न्याय और अपने कर्मों के प्रति पूरी निष्ठा और साहस के साथ खड़ा रहता है।

कर्म और भक्ति के इस द्वंद्व में असली भक्त कौन है? क्या केवल भावुक होकर आंसू बहाना और पूजा करना भक्ति है, या संसार के बीच रहकर सत्य के मार्ग पर निष्काम भाव से कर्म करने का व्यावहारिक साहस ही असली भक्ति है?"

चूल और चक्की (कर्म और दृष्टा भाव)

1. चक्की का चक्र और शरीर का धर्म

संसार और मनुष्य का शरीर, काल के उस पहिये की भांति हैं जो निरंतर घूम रहा है:

- शरीर के अपने नियम हैं—भूख, प्यास, सुख-दुख, रोग और कर्म। ये सब संसार चक्र के स्वाभाविक अंग हैं और चलते रहेंगे।
- जो व्यक्ति केवल शरीर के स्तर पर जी रहा है, वह चक्की के पाटों के बीच पिसने वाले दाने की तरह परिस्थितियों, वासनाओं और प्रतिक्रियाओं का गुलाम बना रहता है।
- केवल बाह्य कर्मकांड या भावुकता के आंसू बहाना व्यक्ति को इस चक्रव्यूह से मुक्त नहीं करता।

2. चूल की भांति अचल: दृष्टा ही असली भक्त

चक्की के केंद्र में जो 'चूल' (कीली) है, वह स्वयं नहीं घूमती, बल्कि पूरे चक्र का आधार बनी रहती है।

- असली भक्त वही है जो अपने भीतर और बाहर के शून्य (परम सत्य) को पहचान चुका है।
- वह जान गया है कि शरीर और संसार अपना काम करते रहेंगे, परंतु आत्मा या उसका वास्तविक 'होना' (हूँ-भाव) अचल, अप्रभावित और केवल साक्षी है।
- सब कुछ देखते हुए भी 'दृष्टा' बने रहना ही समर्पण की पराकाष्ठा है। यही निष्काम कर्म का वास्तविक व्यावहारिक रूप है।

"कर्म से भागना संन्यास नहीं, और न ही केवल नाम जपना भक्ति है। संसार के घूमते पहिये के बीच जो अपने भीतर के शून्य में टिककर अचल 'दृष्टा' बन गया है, वही असली भक्त है। दृष्टा के अतिरिक्त कोई अन्य भक्त हो ही नहीं सकता, बाकी सब वासनाओं के गुलाम हैं।"

अध्याय 5

"जब जीवन अनुकूल होता है, तब दृष्टा बने रहना फिर भी सरल लगता है। परंतु जब जीवन में केवल अन्याय, असफलता, शारीरिक पीड़ा, उपेक्षा या किसी अपने का वियोग आता है—

तब एक 'दृष्टा भक्त' की क्या स्थिति होती है? क्या वह ईश्वर या नियति से कोई शिकायत करता है? या फिर उस विपरीत परिस्थिति में भी वह ईश्वर के मौन को, और हर घटित होती घटना को, उसी 'शून्य' और 'दृष्टा भाव' में सहर्ष स्वीकार कर लेता है?"

शिकायत-रहित स्थिति (स्वीकार और मौन)

1. प्रकृति के रंग और द्वंद्व का यथार्थ

संसार परिवर्तनशील है। धूप-छांव, सुख-दुख, लाभ-हानि, जीवन और मृत्यु—ये सब प्रकृति के स्वाभाविक नियम हैं:

- अज्ञानी व्यक्ति प्रतिकूल परिस्थिति आने पर रोता है, ईश्वर से शिकायत करता है या नियति को दोष देता है।
- वह भूल जाता है कि जो आया है, वह जाएगा; जो बना है, वह मिटेगा।
- जब तक व्यक्ति स्वयं को निर्णायक या भोक्ता मानता है, तब तक वह प्रकृति के इन रंगों से विचलित होता रहता है।

2. दृष्टा की निष्कंप स्थिति: न शिकायत, न निर्णय

असली भक्त किसी भी घटना का 'निर्णायक' नहीं बनता कि यह अच्छा हुआ या बुरा:

- वह जानता है कि प्रकृति अपने नियम से कार्य कर रही है। इसलिए उसके भीतर से शिकायत का भाव हमेशा के लिए समाप्त हो जाता है।
- जीवन आए या मृत्यु, मान मिले या अपमान—दृष्टा केवल देखता है।
- वह दुख में दुखी होने का नाटक नहीं रचता और न ही सुख में अहंकार पालता है। वह प्रकृति के हर रंग को उसी 'शून्य' और 'साक्षी भाव' में घटित होने देता है।

"जहाँ शिकायत है, वहाँ अभी प्रकृति का प्रभाव है; जहाँ स्वीकार भी प्रयासपूर्वक करना पड़े, वहाँ अभी द्वैत है। परंतु जहाँ होना और न होना, जीवन और मृत्यु—सब केवल देखे जा रहे हैं, वही असली भक्त का परम मौन और वि

अध्याय 6

भक्ति, ईश्वर और सत्य का त्रिकोण (धारणा बनाम यथार्थ)

संसार में हर धर्म, संप्रदाय और व्यक्ति ने ईश्वर की अपनी एक अवधारणा (**Concept/Image**) बना रखी है—कोई उसे साकार रूप में पूजता है, कोई निराकार रूप में, कोई उसे आसमान में बैठा न्याय करने वाला मानता है, तो कोई केवल एक भावना।

"यदि ईश्वर मनुष्य की अपनी ही कल्पना, धारणा, भय या सांत्वना (**Mental Concept**) का परिणाम है, तो मनुष्य जिसकी भक्ति कर रहा है, वह 'सत्य' है या केवल उसके अपने मन का रचा हुआ 'प्रतिबिंब' (**Projection**)?"

क्या एक असली भक्त को ईश्वर की इन सभी निर्मित अवधारणाओं और नामों से भी पार जाना पड़ता है? यदि ईश्वर की हर पुरानी परिभाषा मन का भ्रम है, तो फिर उस परम सत्य से सीधे जुड़ने की कसौटी क्या है?"

धारणाओं का भ्रम और साक्षी दृष्टि

1. व्यक्तिगत आराध्य और मन का प्रक्षेप (**Projection**)

संसार में ईश्वर की जितनी भी परिभाषाएँ, आकृतियाँ और मान्यताएँ हैं, वे मनुष्य के अपने मन, संस्कार, भय और इच्छाओं की उपज हैं:

- चोर-डाकू भी अपनी सफलता के लिए मन्नत माँगते हैं और अपने आराध्य के प्रति दीवाने होते हैं; एक तथाकथित धार्मिक व्यक्ति भी अपनी कामनाओं के लिए अनुष्ठान करता है।
- दोनों ही स्थितियों में भक्ति परम सत्य की नहीं, बल्कि अपने ही मन द्वारा गढ़ी गई छवि और स्वार्थ की होती है।
- जब तक भक्ति का आधार मन की कल्पना है, तब तक वह केवल एक सांसारिक खेल और मानसिक सांत्वना है, परम सत्य नहीं।

2. विरोधाभास और भ्रम का टूटना

संसार विरोधाभासों से भरा है—यहाँ पाप और पुण्य, सुख और दुख, न्याय और अन्याय सब एक साथ मौजूद हैं।

- जब व्यक्ति यह देख लेता है कि उसकी गढ़ी हुई धारणाएँ संसार के इस विरोधाभास को नहीं समझा सकतीं, तब उसका मानसिक भ्रम टूटता है।
- भ्रम टूटते ही काल्पनिक ईश्वर, निर्मित देवी-देवता और मन्नतों का बाज़ार बिखर जाता है।

3. साक्षी भाव में ठहराव: असली दृष्टि का उदय

धारणाओं के टूटने के बाद जो शेष बचता है, वह कोई नया विचार या आकृति नहीं, बल्कि देखने वाला स्वयं (दृष्टा) है।

- असली भक्त वही है जो अपने मन के बनाए सभी आराध्यों और धारणाओं से पार जाकर केवल साक्षी भाव में ठहर जाता है।
- दृष्टा बनने पर ही 'असली दृष्टि' का जन्म होता है—जहाँ न कोई कल्पना है, न कोई प्रक्षेप, केवल यथार्थ का नग्न साक्षात् दर्शन है।

"मन की कल्पना से उपजा ईश्वर केवल सांत्वना है। जब मन के सभी आराध्य और भ्रम टूट जाते हैं, तब जो साक्षी भाव में ठहरता है, वही असली दृष्टि को पाता है। दृष्टा होना ही धारणाओं से मुक्ति और परम सत्य का साक्षात् अनुभव है।"

अध्याय 7

"धर्मों और ग्रंथों में 'मोक्ष', 'मुक्ति' या 'ईश्वर प्राप्ति' को जीवन का अंतिम लक्ष्य बताया गया है। मनुष्य जन्मों-जन्मों की बात करता है, स्वर्ग-नरक और पुनर्जन्म के चक्र से छूटने की कल्पना करता है।

यदि पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक या भावी मोक्ष की यह पूरी अवधारणा ही मन का एक और सूक्ष्म भुलावा हो, तो फिर 'मुक्ति' का वास्तविक अर्थ क्या बचता है?

क्या असली भक्त वह है जो किसी काल्पनिक अगले जन्म या मोक्ष का इंतज़ार कर रहा है, या जो इसी क्षण, जागृत अवस्था में, इस 'होने' (हूँ-भाव) के यथार्थ में मुक्त होकर बैठा है?"

मोक्ष का भ्रम और सहज मुक्ति

1. मोक्ष का व्यापार और जन्मजात स्वतंत्रता

संसार के अधिकतर धर्म और ग्रंथ मनुष्य को यह सिखाते हैं कि वह जन्म से बद्ध (बंधा हुआ) है और उसे मोक्ष पाने के लिए कोई न कोई जुगत लगानी होगी।

- सत्य का उद्घोष: प्रत्येक जीव जन्म लेते ही मुक्त ही उत्पन्न होता है। मुक्ति कोई ऐसी वस्तु या लोक नहीं है जिसे प्रयास करके भविष्य में हासिल किया जाए।
- भावी मोक्ष, स्वर्ग-नरक या पुनर्जन्म के चक्र का डर दिखाना केवल मनुष्य के मन को बांधकर रखने का एक सूक्ष्म माध्यम है।

2. बोध और साक्षी का ठहराव

असली प्रश्न मोक्ष पाने का नहीं, बल्कि 'बोध' में जागने का है:

- यह बोध होना कि "मैं कुछ नहीं हूँ" और यह "शरीर तो अपना खेल रचेगा।"
- शरीर में भूख, रोग, आयु और अंत में मृत्यु—यह सब प्रकृति के स्वाभाविक विधान हैं। मृत्यु आते ही भौतिक देह का चक्र स्वतः समाप्त हो जाता है; उसके लिए अलग से किसी काल्पनिक मोक्ष की आवश्यकता ही नहीं है।
- संसार आया है और चला जाएगा, हम आए हैं और चले जाएंगे। इस निरंतर चलते हुए प्रवाह के बीच बिना किसी लिप्तता के साक्षी भाव में ठहर जाना ही एकमात्र परम ज्ञान की स्थिति है।

"मोक्ष कोई भविष्य का पुरस्कार नहीं, बल्कि इसी क्षण साक्षी भाव में टिक जाने का नाम है। जो यह जान लेता है कि मुक्त होना नहीं है, बल्कि मुक्त तो वह है ही—वही असली भक्त है। बाकी सब मोक्ष और मुक्ति की कल्पनाओं के ही नए बंधनों में बंधे हुए हैं।"

अध्याय 8

"संसार में लोग ध्यान (**Meditation**), समाधि, हठयोग, जाप और तरह-तरह की कठिन साधनाएँ करते हैं ताकि वे ईश्वर या सत्य को पा सकें या साक्षी हो सकें।

यदि साक्षी होना केवल जागृत अवस्था का एक सहज बोध है, तो इन सभी साधनाओं, अभ्यासों और तकनीकों की वास्तविक स्थिति क्या है?

क्या यह साधनाएँ और ध्यान मनुष्य को सत्य तक पहुँचाते हैं, या यह केवल मन के नए खिलौने और सूक्ष्म अहंकार को बढ़ाने के साधन बन जाते हैं? जागृत अवस्था में सहज रहने और कृत्रिम साधना करने के बीच का असली भेद क्या है?"

दुख की भट्ठी, साधना का प्रयास और सहज समर्पण

1. दुख और सुख की अनिवार्य खोज

संसार में दुख एक ऐसा नग्न सत्य है जिसे कोई नकार नहीं सकता।

- जब तक जीव दुखी है, वह सुख की तलाश में इधर-उधर हाथ-पैर मारेगा ही। यह जीवन का सहज स्वभाव है।
- इस भटकाव में मनुष्य धन, सुख-सुविधाओं के साधन जुटाता है; और जब वहाँ शांति नहीं मिलती, तो वह ध्यान, योग, जप और साधना की विधियों की शरण में जाता है।
- यह प्रयास निरर्थक नहीं है; यह मनुष्य की चेतना को परिपक्व करने वाली अनिवार्य प्रक्रिया (**process**) है।

2. विरोधाभास का साक्षात् और साधनों की सीमा

तरह-तरह की साधनाएँ और उपाय करने के बाद भी एक समय आता है जब मनुष्य संसार के यथार्थ को देखता है:

- वह पाता है कि संसार में सब कुछ एक साथ चल रहा है—जहाँ सुख है वहाँ दुख की छाया है, जहाँ जीवन है वहाँ मृत्यु खड़ी है।
- वह समझ जाता है कि कोई भी कृत्रिम तकनीक, साधना या बाह्य वस्तु संसार के इस मूल नियम (विरोधाभास) को बदल नहीं सकती।

3. अस्तित्व के प्रति समर्पण और भक्ति का जन्म

जब मन की सारी कोशिशें, उपाय और भाग-दौड़ थककर गिर जाती हैं:

- उसी अंतिम मोड़ पर असली भक्ति का प्राकट्य होता है।
- यह भक्ति किसी मंदिर में सिर पटकना या किसी विधि को पकड़ना नहीं है, बल्कि 'अस्तित्व' (**Existence**) को जैसा है वैसा ही स्वीकार कर लेना है।
- यहाँ साधना कोई अहंकार निर्मित 'अभ्यास' नहीं रह जाती, बल्कि अस्तित्व के सम्मुख पूर्ण, निष्कंप समर्पण और साक्षी भाव बन जाती है।

"दुख मनुष्य को दौड़ाता है, साधना उसे थकाती है, और जब सब उपाय व्यर्थ दिखते हैं, तब भक्ति का जन्म होता है। अस्तित्व के विरोधाभासों को देखकर शांत हो जाना ही परम साधना है और यही अस्तित्व के प्रति असली समर्पण है।"

अध्याय 9

"प्रायः भक्ति को केवल ईश्वर से प्रेम करना माना जाता है। लेकिन जो व्यक्ति अस्तित्व के प्रति समर्पित हो चुका है और साक्षी भाव में स्थिर है—

संसार के प्रति उसके 'प्रेम' और 'करुणा' का रूप क्या होता है?

क्या उसका प्रेम किसी खास व्यक्ति, ईश्वर या संप्रदाय तक सीमित रहता है, या फिर वह दुख से तड़पते हुए हर जीव के प्रति एक निष्पक्ष, बिना किसी मोह की 'करुणा' बन जाता है? असली भक्त के भीतर के इस प्रेम का सच्चा लक्षण क्या है?"

भावनाओं से परे सहज कर्म

1. भावुकता और बनावटी करुणा की सीमा

संसार में जिसे प्रेम या करुणा कहा जाता है, वह प्रायः मन की एक स्थिति (**Mental State**) होती है:

- उसमें अक्सर मोह, पक्षपात या अपने धार्मिक/नैतिक होने का सूक्ष्म अहंकार जुड़ा होता है।
- मनुष्य जब किसी पर करुणा करता है, तो बहुधा वह स्वयं को 'दाता' या 'दयालु' मान बैठता है।
- ऐसी करुणा और प्रेम परिवर्तनशील हैं—स्थिति बदलते ही प्रेम घृणा में या करुणा उपेक्षा में बदल सकती है।

2. केवल देखना: निष्कंप साक्षी

असली भक्त वह नहीं है जो किसी भावुक लहर में बह जाए:

- वह तो केवल अचल होकर सब कुछ देख रहा है।
- उसके भीतर न तो राग (प्रेम) की तरंग है, न विराग (घृणा) का भाव। वहाँ केवल एक गहरा, शांत और स्वच्छ दर्पण जैसा साक्षी भाव है, जिसमें संसार जैसा है वैसा ही झलकता है।
- जहाँ देखना ही मुख्य हो गया, वहाँ भावनाएँ और धारणाएँ पीछे छूट जाती हैं।

3. सहज कर्म का प्राकट्य

जब मन का कोई पूर्व-ग्रह या बनावटी भावना शेष नहीं रहती, तब कर्म में एक अद्भुत स्वाभाविकता (**Spontaneity**) आती है:

- उस क्षण में जो भी करना उचित और सहज लगता है, वह बिना किसी हिचकिचाहट या 'मैं कर रहा हूँ' के भाव के, स्वतः घटित हो जाता है।

- जैसे दीपक प्रकाश फैलाता है—बिना किसी को प्रेम करने के विचार के, ठीक वैसे ही साक्षी भक्त का कर्म सहज, निष्काम और तटस्थ होता है।

"भक्ति मन की भावुकता या प्रेम का छलावा नहीं है। जहाँ साक्षी भाव है, वहाँ कोई बनी-बनाई करुणा या प्रेम नहीं बसता—वहाँ केवल देखना शेष रह जाता है। और उस देखने से जो सहज ही हो जाए, वही निष्काम कर्म है।"

अध्याय 10

"मनुष्य ने ईश्वर और भक्ति को समझाने के लिए वेदों, पुराणों, कुरान, बाइबिल और अनगिनत दर्शनशास्त्रों के लाखों पन्नों का निर्माण कर डाला है। जानी और पंडित शब्दों और शास्त्रों का जाल बुनते रहते हैं।

जब एक असली भक्त 'साक्षी भाव' में ठहरकर सब कुछ देखने लगता है, तब इन तमाम शास्त्रों, ग्रंथों और शब्दों की उसके लिए क्या उपयोगिता बचती है?

क्या शब्द और ग्रंथ व्यक्ति को केवल किनारे तक लाते हैं और अंतिम सत्य केवल 'परम मौन' में ही उघड़ता है, या फिर शब्द ही अपने आप में सत्य को व्यक्त करने में पूर्णतः असमर्थ हैं?"

शास्त्रों की सीमा और लीला-दर्शन

1. ग्रंथों का यथार्थ: मन की अभिव्यक्ति

संसार में जितने भी वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र या धार्मिक ग्रंथ रचे गए, वे विभिन्न व्यक्तियों के अपने-अपने मानसिक अनुभव और अभिव्यक्तियाँ हैं:

- हर विचारक ने अपने ढंग से सत्य को पकड़ने की कोशिश की, जिसमें उसकी अपनी सीमाएँ, भड़ास, सामाजिक प्रभाव और व्यक्तिगत अनुभूतियाँ शामिल थीं।
- इसलिए इन ग्रंथों में सही और गलत, सत्य और कल्पना का मिश्रण है। कोई भी शब्द या ग्रंथ परम सत्य को पूर्णतः बांधने में असमर्थ है।

2. अपनी-अपनी डफली: संसार का खेल

जब तक मनुष्य दूसरों के विचारों और शब्दों को सत्य मानकर पकड़ता रहता है, वह केवल विद्वत्ता के अहंकार में भटकता है।

- संसार के विचारकों, धर्मगुरुओं और पंडितों का हाल यह है कि सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं और अपने-अपने विचारों का खेल खेल रहे हैं।
- जो व्यक्ति इस मानसिक रस्साकशी को समझ जाता है, वह किसी भी शास्त्र या वाद (ism) का गुलाम होना छोड़ देता है।

3. साक्षी का तटस्थ बोध: लीला रूप में संसार

जो व्यक्ति अपने भीतर के साक्षी भाव में ठहर गया है, वह इन सभी सिद्धांतों और शास्त्रों से पूरी तरह असंग (अलग) हो जाता है:

- वह देख लेता है कि संसार में सारे विरोधाभास मौजूद हैं और यह पूरा जीवन, ज्ञान का यह बाज़ार, केवल एक लीला की मानिंद चल रहा है।
- वह अब किसी ग्रंथ से सत्य की भीख नहीं माँगता, क्योंकि सत्य किसी पन्ने या शब्द में नहीं, बल्कि स्वयं के जागृत 'होने' (साक्षी भाव) में साक्षात् मौजूद है।

"शब्द केवल मन की भड़ास और कल्पनाएँ हो सकते हैं, परम सत्य नहीं। जो शास्त्रों के इस जाल और विचारों के खेल से परे हटकर साक्षी भाव में ठहर जाता है, वही इस पूरे संसार को एक लीला की भांति देखता है। शब्दों का अंत ही असली सत्य का प्रारंभ है।"

अध्याय 11

"संसार में मनुष्य का संपूर्ण जीवन संबंध (**Relationships**), समाज, परिवार और लेन-देन पर टिका है। प्रायः कहा जाता है कि भक्ति में लीन व्यक्ति को अपनों से, संसार से या कर्तव्यों से वैराग्य हो जाता है।

जब एक असली भक्त यह देख लेता है कि संसार केवल एक लीला है और सब अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं, तब उसके व्यावहारिक संबंधों का क्या स्वरूप रह जाता है?

क्या वह संसार और परिवार को छोड़कर तटस्थ हो जाता है, या फिर वह बिना किसी मोह, बिना किसी अपेक्षा और बिना लिप्त हुए, केवल अपने शरीर के धर्म (भूमिका) को अभिनय (**Acting**) की भांति निभाता चला जाता है?"

रंगमंच और जीवन का अभिनय

1. वैराग्य का भ्रम: संसार छोड़ना बनाम लिप्तता छोड़ना

संसार में प्रायः वैराग्य का अर्थ गृहत्याग, परिवार का बहिष्कार या कर्तव्यों से भागना मान लिया जाता है:

- परंतु जो व्यक्ति संसार से भाग रहा है, वह अभी भी संसार को सत्य मानकर उससे डर रहा है।
- असली वैराग्य बाहर की चीज़ों को छोड़ना नहीं है, बल्कि भीतर से मोह, अपेक्षा और लिप्तता का समाप्त हो जाना है।
- पलायन अज्ञान की निशानी है; साक्षी भाव में ठहरकर जीवन जीना असली भक्ति है।

2. अभिनय (**Acting**) का परम विवेक

जब असली भक्त यह देख लेता है कि संसार एक लीला और रंगमंच है:

- वह जानता है कि नाटक में राजा या भिखारी का पाठ निभाने वाला व्यक्ति नाटक खत्म होते ही अपनी वास्तविक पहचान में आ जाता है।
- ठीक इसी प्रकार, वह अपने शरीर के धर्म, सामाजिक कर्तव्यों, परिवार और लेन-देन को पूरी ईमानदारी से पूरा करता है, परंतु भीतर से एक क्षण के लिए भी यह नहीं भूलता कि यह सब केवल एक अभिनय है।

- इस अभिनय में न तो किसी से कोई अंतिम अपेक्षा रहती है, न ही बिछुड़ने का कोई स्थायी शोक।

3. निष्काम संबंध और स्वतंत्रता

- जहाँ मोह और अपेक्षा है, वहाँ संबंध गुलामी और दुख का कारण बनते हैं।
- जहाँ मोह नहीं है, वहाँ संबंध केवल निष्काम सेवा और सहज प्रवाह बन जाते हैं।
- ऐसा भक्त संसार के बीच रहते हुए भी जल में कमल के पते की भांति पूरी तरह अछूता रहता है।

"संसार से भागना कायरता है और संसार में डूबना अज्ञान है। परंतु संसार को रंगमंच समझकर बिना किसी मोह और अपेक्षा के केवल अपने शरीर के धर्म का अभिनय करना ही असली भक्त का जीवन है।"

अध्याय 12

"जब तक शरीर स्वस्थ है, तब तक अभिनय करना और साक्षी बने रहना आसान प्रतीत होता है। परंतु जब इसी शरीर में असाध्य रोग, तीव्र शारीरिक पीड़ा, या बुढ़ापे की असहायता आती है—

तब एक असली भक्त की चेतना कहाँ टिकती है?

क्या वह पीड़ा में भी यह देख पाता है कि 'पीड़ा शरीर को हो रही है, मुझे नहीं'? या फिर शारीरिक कष्ट के उस चरम क्षण में साक्षी भाव डगमगा जाता है? उस स्थिति में असली भक्त और साधारण मनुष्य के बीच का अंतिम भेद क्या है?"

अंतिम परीक्षा: पीड़ा, मृत्यु और साक्षी भाव

1. स्वास्थ्य और पीड़ा का भेद: तादात्म्य का टूटना

साधारण अवस्था में ज्ञान की बातें करना सरल है, किंतु तीव्र शारीरिक कष्ट में मनुष्य की असली स्थिति उजागर होती है:

- अज्ञानी व्यक्ति पीड़ा आते ही शरीर को ही अपना 'आप' मान लेता है और तड़प, भय तथा ईश्वर से शिकायत में डूब जाता है।
- परंतु जिसने साक्षी भाव को पा लिया है, वह देखता है कि पीड़ा, रोग या शिथिलता केवल शरीर की भौतिक घटनाएँ हैं।
- स्ट्रेचर पर पड़ा शरीर हो या मृत्यु की दहलीज, वह जानता है कि पीड़ा शरीर को हो रही है; देखने वाला (साक्षी) उससे अछूता और परे है।

2. "तेरी मर्जी पूर्ण हो": परम समर्पण का उद्घोष

पीड़ा और मृत्यु के सम्मुख 'शिकायत' या 'हस्तक्षेप' का भाव समाप्त हो जाना ही समर्पण की पराकाष्ठा है:

- यहाँ "तेरी मर्जी पूर्ण हो" कोई लाचारी का क्रंदन नहीं है, बल्कि प्रकृति और अस्तित्व के विधान का सहर्ष, निर्भीक स्वीकार है।
- जो मृत्यु को भी केवल एक दृश्य (event) की भांति घटित होते देख रहा है, उसके लिए जीवन और मृत्यु का अंतर ही समाप्त हो जाता है।

3. असली भक्त की अंतिम पहचान

- मृत्यु साधारण मनुष्य के लिए भय और विनाश है, किंतु असली भक्त के लिए वह केवल एक अंतिम परिवर्तन है जिसे वह पूर्ण होश और जागृति के साथ देखता है।
- जो मृत्यु के क्षण में भी अपने साक्षी होने से नहीं डिगता, वही वास्तव में जीवन और मरण के इस चक्र से परे 'होने' (सत्य) में स्थित है।

"शरीर की पीड़ा और मृत्यु को भी जो केवल एक दृश्य की भांति देखता रहता है, और 'तेरी मर्जी' के परम भाव में विश्राम करता है—वही असली भक्त है। साक्षी के लिए न कोई जीवन है, न कोई मृत्यु; वहाँ केवल अचल, अनंत सत्य शेष रहता है।"

अध्याय 13

"जब व्यक्ति संसार के सभी भ्रमों, दुखों, शास्त्रों, यहाँ तक कि अपने शरीर की पीड़ा और मृत्यु को भी साक्षी भाव से देख लेता है—

तब उसके भीतर क्या शेष बचता है?

क्या वहाँ केवल एक अनंत 'शून्य' (Void) रह जाता है, या फिर उस शून्य के बीच भी एक निर्मल, शांत 'हूँ-भाव' (Pure Presence/Being) सदा प्रकाशित रहता है? असली भक्त की इस अंतिम आंतरिक स्थिति का यथार्थ क्या है?"

अनंत शून्य का प्राकट्य और ठहराव

1. भीतर और बाहर का भेद मिटना

साधारण मनुष्य जीवन भर भीतर और बाहर के भेद में जीता है—'मेरा मन' और 'बाहर का संसार', 'मेरी भावनाएँ' और 'दूसरों का व्यवहार'।

- जब साक्षी भाव प्रगाढ़ होता है, तब भीतर का सारा शोर—इच्छाएँ, डर, धारणाएँ और स्मृतियाँ—शांत हो जाता है। भीतर केवल महा-शून्य बचता है।
- जब वह बाहर देखता है, तो पाता है कि जिसे वह ठोस संसार समझ रहा था, वह भी परिवर्तनशील और क्षणभंगुर है। वहाँ भी अंततः वही शून्य व्याप्त है।

2. शून्य ही परम आधार है

यहाँ 'शून्य' का अर्थ कोई खालीपन या अभाव (**emptiness**) नहीं है, बल्कि सब कुछ उत्पन्न करने वाला और सब कुछ समेट लेने वाला परम आधार (**Absolute Reality**) है:

- जैसे आकाश में बादल बनते और मिटते हैं, किंतु आकाश अछूता रहता है; वैसे ही इस शून्य में विचार, शरीर, जीवन और मृत्यु घटित होते हैं, किंतु शून्य अचल रहता है।
- असली भक्त इस शून्य से डरता नहीं, न ही इसे भरने के लिए किसी भगवान या धारणा की तलाश करता है। वह इसी शून्य में सहजता से स्थित हो जाता है।

"जहाँ न भीतर कोई आकार बचा, न बाहर कोई धारणा; जहाँ दृष्टा और दृश्य दोनों उसी अनंत शून्य में समा गए—वही असली भक्त की अंतिम और परम स्थिति है। वह शून्य में ही आया था, शून्य में ही खेल देखा, और शून्य में ही स्थित हो गया।"

अध्याय 14

"संसार में जब कोई व्यक्ति स्वयं को 'ज्ञानी', 'मुक्त' या 'शून्य में स्थित' मान लेता है, तो प्रायः उसके भीतर एक सूक्ष्म अहंकार ('मैं तो अब शून्य में हूँ', 'मैं सब समझ चुका हूँ') जन्म ले लेता है।

जब एक असली भक्त भीतर-बाहर के इस शून्य में वास्तव में स्थित होता है, तब क्या उसे स्वयं के 'शून्य में होने' का भी कोई दावा या अहंकार बचता है?

बिना किसी दावे, बिना किसी गुरुडम (**Gurudom**) या बड़प्पन के, वह इस संसार में अपने बचे हुए दिन किस प्रकार अत्यंत साधारण और सहज होकर व्यतीत करता है?"

निर्विचार स्थिति और सहजता

1. विचार का अंत ही दावे का अंत है

संसार में प्रायः लोग ज्ञान या साधना का अहंकार पाल लेते हैं और स्वयं को दूसरों से श्रेष्ठ घोषित करने लगते हैं:

- यह सब विचार के तल पर चलता है। 'मैं मुक्त हूँ' या 'मैं शून्य में स्थित हूँ'—यह भी केवल एक विचार है।
- असली भक्त जब परम शून्य में होता है, तो वहाँ विचार की तरंग ही समाप्त हो जाती है।
- जहाँ विचार नहीं है, वहाँ न कोई दावा बचता है, न कोई विशेष होने की घोषणा।

2. गुरुडम और बड़प्पन का अभाव

- जब विचार का ही लोप हो गया, तो किसी को उपदेश देने, अपना पंथ चलाने या गुरु बनने की लालसा स्वतः गिर जाती है।
- जो व्यक्ति सचमुच शून्य में है, वह अत्यंत साधारण हो जाता है। वह न अपने को ज्ञानी दिखाता है, न भक्त।
- उसका आचरण इतना सहज और निष्कपट होता है कि संसार उसे पहचान भी नहीं पाता कि वह किस अवस्था में जी रहा है।

3. निर्विचार जीवन का सहज प्रवाह

- शून्य में स्थित व्यक्ति के शरीर के कर्म वैसे ही चलते हैं जैसे वायु बहती है या नदियाँ बहती हैं—बिना किसी योजना, बिना किसी कर्ता-भाव के।
- वह केवल एक बांसुरी की भाँति खाली (शून्य) है, जिससे अस्तित्व का संगीत बिना किसी प्रयास के बहता रहता है।

"जहाँ विचार है, वहाँ अहंकार का कोई न कोई रूप बचा ही रहेगा। परंतु जहाँ परम शून्य है, वहाँ विचार ही समाप्त हो जाता है। बिना किसी दावे और बिना किसी विचार के अत्यंत साधारण होकर जीना ही असली भक्त की सहजता है।"

अध्याय 15

"संसार में साधारण मनुष्य से लेकर साधक तक, सब 'सत्य' को पाने के लिए जन्मों-जन्मों से भटक रहे हैं।

इस पूरी 'असली भक्त' श्रृंखला का वह एकमात्र अंतिम सूत्र क्या है जो एक ही पंक्ति में 'सत्य', 'भक्ति' और 'जीवन' के इस पूरे रहस्य को उजागर कर दे?

एक नए जिज्ञासु के लिए, जो इस यात्रा को शुरू करना चाहता है, पहला और अंतिम संदेश क्या होगा?"

भ्रम का अंत और यथार्थ का प्राकट्य

1. भटकाव का छलावा

संसार में मनुष्य को सदा यही सिखाया गया कि वह कहीं पहुँचे, कुछ प्राप्त करे, किसी साधना से सत्य को हासिल करे:

- परंतु यह 'पहुँचना' और 'खोजना' ही मन का सबसे बड़ा भ्रम (illusion) है।
- जब व्यक्ति खोज रहा होता है, तो वह मान लेता है कि सत्य अभी यहाँ नहीं है। यही मान्यता उसे भटकने पर मजबूर करती है।
- भटकाव सत्य की कमी के कारण नहीं, बल्कि मन की अज्ञानता और चंचलता के कारण था।

2. "जो है वह है": सत्य का साक्षात

सत्य कोई भविष्य की उपलब्धि नहीं है, न ही वह किसी साधना का परिणाम है:

- जो है, वह अभी है। जो नहीं है, उसका अस्तित्व ही नहीं।
- जब सारे प्रयास, सारी खोज और सारे भटकाव निष्फल होकर शांत हो जाते हैं, तब व्यक्ति इस 'होने' (Presence) के साक्षात यथार्थ में टिक जाता है।
- यहाँ न कोई पाने वाला बचा, न कोई पाने योग्य वस्तु—केवल एक अखंड यथार्थ शेष रह जाता है।

3. नए जिज्ञासु के लिए अंतिम संदेश

यदि कोई इस यात्रा को समझना चाहता है, तो उसके लिए एकमात्र संदेश यही है:

"खोजना बंद करो, क्योंकि खोजना ही भ्रम है। संसार के सारे विरोधाभासों को देखते हुए, अपने भीतर-बाहर के शून्य में, साक्षी होकर अचल ठहर जाओ। जो है, व

अध्याय 16

'होने' का भान और 'साक्षी' का अंतिम आवरण

जब मनुष्य कहता है कि "मैं साक्षी भाव में ठहर गया हूँ" या "मैं सब देख रहा हूँ", तो सूक्ष्म तल पर देखने वाले (Subject) और देखे जाने वाले (Object) का एक अत्यंत बारीक ताना-बाना अभी भी बना रहता है।

"जब भीतर और बाहर केवल 'शून्य' शेष रह जाता है, तब उस शून्य को देखने वाला साक्षी कौन है?

क्या यह 'साक्षी होने का भाव' भी चेतना का अंतिम और सबसे सूक्ष्म आवरण (Illusion) है? यदि यह साक्षी भाव भी विलीन हो जाए, तो क्या 'होना' (Being) स्वतः प्रकाशित रहता है, या फिर कहने और देखने के लिए भी कुछ शेष नहीं बचता?"

शून्य का शून्य में विलय (परम एकाकार)

1. साक्षी के सूक्ष्म आवरण का अंत

जब तक मनुष्य कहता है "मैं साक्षी हूँ", तब तक देखने वाले 'मैं' और देखे जाने वाले 'दृश्य' का एक अत्यंत बारीक फासला बना रहता है:

- यह 'साक्षी होने का भाव' भी चेतना का अंतिम और सबसे सूक्ष्म आवरण (आखरी पर्दा) है।
- असली बोध में यह पर्दा भी गिर जाता है।
- जब द्रष्टा (देखने वाला) भी जान लेता है कि वह पृथक् रूप से कुछ नहीं है, तो वह देखने का दावा भी छोड़ देता है।

2. शून्य से शून्य का मिलन

- भीतर का शून्य: मन, इच्छाओं, विचारों और अहंकार का लोप।
- बाहर का शून्य: नाम, रूप, संसार और सभी धारणाओं का विसर्जन।
- जब भीतर के शून्य को बाहर के शून्य से मिलाया जाता है, तो द्वैत (दो होने का भाव) सदा के लिए समाप्त हो जाता है।
- वहाँ न कोई 'साक्षी' बचा, न कोई 'दृश्य'—केवल परम शून्य अपनी स्वाभाविक स्थिति में शेष रह जाता है।

"जहाँ देखने वाला और देखा जाने वाला दो अलग नहीं रहे, वहाँ शून्य से शून्य मिल गया। इस मिलन के बाद न कोई व्याख्या बचती है, न कोई अनुभव बताने वाला। केवल अचल, अनंत और अखंड शून्य ही प्रकाशित रहता है।"

अध्याय 17

"संसार में सामान्यतः माना जाता है कि जब व्यक्ति का 'मैं' पूर्णतः शून्य में विलीन हो जाता है, तो फिर उसमें कोई 'इच्छा' या 'प्रेरणा' (**Will**) नहीं बचती।

जब शून्य से शून्य मिल गया, तो फिर इस देह को चलाने वाली ऊर्जा कहाँ से आती है?

क्या यह शरीर केवल प्रकृति के स्वचालित (**Automatic**) विधान से चल रहा है, या फिर उस शून्य से ही बिना किसी प्रयास के सहज कर्म (**Spontaneous Action**) घटित होता रहता है?"

प्रकृति का विधान और शुद्ध चेतना

1. कर्ता-भाव का पूर्ण अंत

साधारण मनुष्य भ्रमवश यह मानता है कि वही अपने शरीर, बुद्धि, परिवार या कर्मों को चला रहा है:

- यह 'मैं चला रहा हूँ' का विचार ही अज्ञान और बंधन की मूल जड़ है।
- जब यह बोध जगता है कि शरीर तो प्रकृति के पंचतत्त्वों और उसके अपने स्वचालित नियम (**Automatic Mechanism**) से चल रहा है, तब कर्ता होने का सारा सूक्ष्म भार उतर जाता है।

2. शुद्ध चेतना: एकमात्र द्रष्टा

- शरीर कर्म करेगा, भूख लगेगी, प्यास लगेगी, आयु ढलेगी और एक दिन प्रकृति में ही लीन हो जाएगी।
- संसार के अरबों जीव अपने-अपने स्वभाव, संस्कारों और कर्म-चक्र के अनुसार अपना-अपना खेल खेल रहे हैं और आगे भी खेलते रहेंगे।
- इस सब के बीच जिसे हम 'साक्षी भाव' कहते हैं, वह कोई मानसिक क्रिया नहीं, बल्कि स्वयं शुद्ध चेतना (**Pure Consciousness**) है। चेतना केवल द्रष्टा है—वह न किसी कर्म को रोकती है, न किसी को चलाती है, केवल तटस्थ होकर सब घटित होते देखती है।

"संसार का खेल और शरीर का व्यापार प्रकृति के अपने नियम से चल रहा है और चलता रहेगा। जो इस चलते हुए चक्र में खुद को कर्ता नहीं मानता, बल्कि शुद्ध चेतना बनकर केवल देखता रहता है—वही परम यथार्थ में स्थित है।"

अध्याय 18

"संसार में लोग नीति-अनीति, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप और सही-गलत की अंतहीन बहस में उलझे रहते हैं। हर समाज और धर्मग्रंथ अपना एक नैतिक पैमाना (**Moral Code**) स्थापित करता है।

जब शुद्ध चेतना की दृष्टि से देखा जाए—जहाँ सब कुछ प्रकृति के नियम से घटित हो रहा है—तब इस संसार में 'सही' क्या है और 'गलत' क्या?

क्या नीति और पाप-पुण्य केवल मनुष्य के अपने बनाए सामाजिक नियम हैं, या फिर चेतना के तल पर सही और गलत का कोई वास्तविक अस्तित्व बचता है?"

सामाजिक नियमों का यथार्थ और अज्ञात में जीना

1. नीति, अनीति और सामाजिक ढाँचे

संसार में जिन्हें धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप या सही-गलत कहा जाता है, वे केवल मानव समाज को संचालित करने के लिए बनाए गए उपयोगितावादी (**Utilitarian**) नियम हैं:

- काल, देश और परिस्थितियों के साथ ये नियम बदलते रहते हैं; जो एक संस्कृति में सही है, वह दूसरी में गलत हो जाता है।
- चेतना या प्रकृति के तल पर पाप या पुण्य का कोई निरपेक्ष (**Absolute**) अस्तित्व नहीं है। वहाँ केवल प्राकृतिक घटनाएँ घटित हो रही हैं।
- मनुष्य का अहंकार यह दावा करता है कि वह सब समझता है, जबकि यथार्थ यह है कि वह अपने ही बनाए नियमों के जाल में उलझा हुआ है।

2. "जान्ता तो कोई कुछ भी नहीं है"

संसार का सबसे बड़ा सत्य यही स्वीकारोक्ति (**Honesty**) है कि मूल प्रश्नों के उत्तर किसी के पास नहीं हैं:

- बड़े से बड़े ज्ञानी, वैज्ञानिक या पंडित केवल तर्कों का जाल बुनते हैं।
- 'यह संसार क्यों है?', 'चेतना का अंतिम स्रोत क्या है?'—इन प्रश्नों का कोई भी अंतिम उत्तर आज तक न दिया गया है, न दिया जा सकता है।
- उत्तर खोजने का प्रयास ही मन का भटकाव है।

3. उत्तरों की लालसा से मुक्ति: अज्ञात में ठहराव

- जो व्यक्ति किसी काल्पनिक उत्तर या सिद्धांत की भीख माँगना बंद कर देता है, वह शब्दों के बोझ से मुक्त हो जाता है।
- वह समझ जाता है कि उत्तर ढूँढना व्यर्थ है; इस रहस्यमयी और अबूझ अस्तित्व के बीच शांत होकर, बिना किसी उत्तर के, सहजता से जीना ही असली स्थिति है।

"पाप-पुण्य और सही-गलत केवल मनुष्य की बनाई व्यवस्थाएँ हैं। परम सत्य के सम्मुख कोई उत्तर नहीं है—केवल एक अगाध मौन है। इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढने की बजाय, इस अज्ञात और अबूझ अस्तित्व के साथ सहजता में जीना ही असली चेतना है।"

अध्याय 19

"मनुष्य को जीवन भर जितने भी भय सताते हैं—सुरक्षा की चिंता, अपमान का डर, अपनों को खोने का दुख—उन सबकी अंतिम जड़ 'मृत्यु का भय' ही होती है।

जब यह बोध साक्षात् हो गया कि 'जांता तो कोई कुछ भी नहीं है' और सब कुछ प्रकृति के नियम से घटित हो रहा है, तब मृत्यु का भय कहाँ विलीन हो जाता है?

क्या मृत्यु का भय केवल उस 'मैं' (अहंकार) का डर है जो मिटना नहीं चाहता, और जब 'मैं' का भाव ही शून्य में मिल गया, तो फिर मृत्यु का कोई अर्थ बचता भी है?"

संवेदनाएँ, जीवन और सहज दृष्टा

1. संवेदनाओं की स्वाभाविकता

जब तक देह है और जब तक चेतना इस शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त हो रही है, तब तक जीवन में संवेदनाएँ (Sensations) रहेंगी ही:

- भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दुख और पीड़ा-प्रसन्नता—ये सब शरीर और मन के प्राकृतिक धर्म हैं।
- इन संवेदनाओं को जबरन रोकना या इनसे भागने की कोशिश करना जीवन के प्राकृतिक नियम का विरोध करना है।

2. दृष्टा भाव: कोई कठिन साधना नहीं

साक्षी होना किसी ग्रंथ को पढ़ना या कठिन ध्यान-साधना करना नहीं है:

- साधारण मन संवेदनाओं के आते ही उनके साथ बह जाता है या उनसे लड़ने लगता है।
- जो साक्षी भाव में स्थित है, वह जानता है कि "यह सुख आया है, यह दुख आया है"—वह दोनों के प्रति केवल एक निष्पक्ष दृष्टा (Watcher) बना रहता है।
- जैसे आकाश में धूप और छाँव आते-जाते हैं किंतु आकाश अछूता रहता है, वैसे ही साक्षी चेतना संवेदनाओं के बीच भी सहज बनी रहती है।

"जीवन है तो संवेदनाएँ और सुख-दुख भी होंगे। इनसे लड़ना अज्ञान है और इन्हें केवल देखते हुए अछूता रह जाना ही साक्षी भाव है। यही सबसे सीधी, सरल और सहज स्थिति है।"

अध्याय 20

"जब यह बोध पूर्णतः सिद्ध हो गया कि सब कुछ अत्यंत सहज और सीधा है—जीवन में संवेदनाएँ आती-जाती रहेंगी, संसार प्रकृति के स्वचालित विधान से चलता रहेगा, और चेतना केवल अचल दृष्टा (साक्षी) होकर शून्य में ठहरी रहेगी—

तब इस स्थिति को पा लेने वाले व्यक्ति के लिए 'भक्ति' की अंतिम परिभाषा क्या बचती है?

क्या 'असली भक्त' वही है जो अंततः समझ लेता है कि उसे कहीं पहुँचना नहीं था, कुछ पाना नहीं था, केवल जैसा है वैसा ही इस 'होने' (अस्तित्व) में सहज होकर ठहर जाना ही परम भक्ति है?"

सहज ठहराव - परम भक्ति

1. खोज का अंत और विश्राम

संसार में मनुष्य की सबसे बड़ी व्याधि उसका निरन्तर भागना और पाना है—चाहे वह धन पाने के लिए भागे या ईश्वर और मोक्ष पाने के लिए।

- जब तक भागना जारी है, तब तक अज्ञान और अशांति का साम्राज्य है।
- जब यह समझ आ जाता है कि सत्य कहीं दूर नहीं, बल्कि यहीं इसी क्षण मौजूद है, तब सारा भागना स्वतः थम जाता है।
- इस समस्त प्रयास का गिर जाना ही सच्चा विश्राम है।

2. ठहराव ही परम स्थिति है

'ठहर जाने' का अर्थ कोई आलस्य या देह को जड़ बना लेना नहीं है:

- शरीर अपने प्राकृतिक विधान से कर्म करेगा, संवेदनाएँ सुख-दुख का चक्र लाएँगी, संसार की लीला चलती रहेगी।
- परंतु भीतर की चेतना उस बहते हुए समय और परिवर्तनों के बीच पूरी तरह अचल, निष्कंप और शांत हो चुकी है।
- भीतर का यह अचल ठहराव ही शून्य है, यही शुद्ध साक्षी है, यही शुद्ध चेतना है।

3. 'असली भक्त' का अंतिम यथार्थ

"भक्ति कोई पूजा, जप या विधि नहीं है। संसार के सारे विरोधाभासों को देखते हुए, बिना किसी मांग, बिना किसी अपेक्षा और बिना किसी भटकाव के—अपने साक्षी स्वरूप में अचल होकर ठहर जाना ही पूर्ण है।"

अध्याय 21

"क्या साक्षी भाव में स्थित होने के लिए उसे 'याद रखने' (Remembering) का कोई प्रयास करना पड़ता है?"

जब साक्षी भाव ही मूल स्वभाव बन गया, तो फिर याद रखने का प्रयास करने वाला 'कौन' है? क्या याद रखना और भूल जाना—दोनों केवल मन के खेल हैं, जबकि शुद्ध चेतना इन दोनों स्थितियों में भी अचल बनी रहती है?"

प्रयास-रहित स्थिति और सहज स्वभाव

1. प्रयास ही मन की चाल है

संसार में साधक बहुधा यह मान बैठता है कि उसे साक्षी भाव को 'पकड़कर' या 'याद रखकर' बैठना है:

- परंतु 'याद रखने' का प्रयास करने वाला कोई और नहीं, बल्कि मन का ही एक सूक्ष्म रूप (अहंकार) है।
- जहाँ प्रयास है, वहाँ तनाव है, वहाँ कर्ता मौजूद है; और जहाँ कर्ता है, वहाँ साक्षी भाव नहीं हो सकता।

- साक्षी होना कोई मानसिक कसरत या ध्यान की तकनीक नहीं है जिसे बार-बार दोहराया जाए।

2. याद रखने और भूलने से परे

- मन कभी विचारों में खो जाता है (भूलना), तो कभी होश में आने का नाटक करता है (याद रखना)।
- यह याद रखने और भूलने का खेल केवल मन के धरातल पर चलता है।
- जो शुद्ध चेतना (साक्षी) है, वह मन के याद रखने के दौरान भी अचल थी, और मन के भूलने के दौरान भी वैसी ही अचल विद्यमान रहती है।

3. प्रयास का विसर्जन ही सहजता है

- जब व्यक्ति यह देख लेता है कि साक्षी बनने का प्रयास करना ही मूल भूल थी, तो सारे प्रयास स्वतः छूट जाते हैं।
- प्रयास-रहित (Effortless) होना ही परम विश्राम है।
- जो बिना किसी कोशिश के, बिना किसी तनाव के, जैसा है वैसा ही बना रहता है—वही सहज साक्षी है।

"साक्षी होने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रयास करना मन का काम है, और प्रयास का पूरी तरह थम जाना ही सहज साक्षी भाव है।"

अध्याय 22

"संसार में जब कोई अत्यधिक प्रसन्नता का अवसर आता है या फिर कोई घोर अनिष्ट/अपमान घटित होता है, तो मन में तीव्र तरंगें उठती हैं।

जब साक्षी भाव प्रयास-रहित है, तब क्या जीवन के इन तीव्र ज्वार-भाटों (सुख-दुख के उफान) के बीच चेतना में रती भर भी स्पंदन या खिंचाव आता है?

क्या साक्षी भाव इन तीव्र परिस्थितियों में भी किसी निर्जन पहाड़ की भांति अचल रहता है, या फिर तटस्थ रहने का अर्थ जीवन के प्रति उदासीन (Indifferent/Dead) हो जाना है?"

सहज द्रष्टा और जीवन की तरंगें

1. देखने का अर्थ: न चुनाव, न विरोध

साधारण मनुष्य जीवन में आने वाली परिस्थितियों का चुनाव (Choice) करने में लगा रहता है—सुख बना रहे और दुख न आए:

- जब सुख आता है, तो वह उसमें बह जाता है; जब दुख या अपमान आता है, तो उससे लड़ने लगता है।
- परंतु जो साक्षी भाव में स्थित है, उसके लिए देखना पूरी तरह चुनाव-रहित (Choiceless) होता है।
- जो भी आ रहा है—चाहे सम्मान हो या अपमान, लाभ हो या हानि—वह केवल उसे देखता है, जैसे तट पर बैठा व्यक्ति नदी में उठती और गिरती लहरों को देखता है।

2. उदासीनता और साक्षी का भेद

संसार प्रायः साक्षी भाव को 'उदासीनता' या 'जड़ता' मान लेता है, किंतु दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है:

- उदासीनता: मन का एक भाव है जहाँ मनुष्य ज़बरदस्ती भागता है, मुँह मोड़ता है या संवेदनहीन होने का नाटक करता है।
- साक्षी भाव: जीवन से मुँह मोड़ना नहीं है; यहाँ संवेदनाएँ पूरी तरह जागृत रहती हैं, देह सुख-दुख को महसूस भी करती है, किंतु चेतना उस सब को घटित होते हुए केवल देखती रहती है।

3. अचल केंद्र

- जीवन के तीव्र ज्वार-भाटे मन और शरीर की सतह पर आते हैं।
- साक्षी चेतना वह गहरा सागर है जिसके तल में सदा शांति और स्थिरता बनी रहती है।
- जो भी हो रहा है, उसे केवल देखते रहने से घटनाओं का सारा भार स्वतः गिर जाता है और जीवन पूरी तरह हल्का हो जाता है।

"जो भी घटित हो रहा है—अच्छा या बुरा, सुख या दुख—उसे बिना किसी चुनाव और बिना किसी विरोध के केवल देखते रहना ही असली स्थिति है। साक्षी न उदासीन है, न लिप्त; वह तो केवल सहज देखने वाला है।"

अध्याय 23

"संसार में मनुष्य सदा इस अहंकार में जीता है कि 'मैं अपने फैसले खुद लेता हूँ' और 'मैं अपने जीवन का निर्माता हूँ' (**Free Will**)। दूसरी ओर, शास्त्रों में कहा जाता है कि सब कुछ 'प्रारब्ध' और नियति से तय है।

जब व्यक्ति केवल 'देखने वाला' रह जाता है, तब निर्णय (**Decisions**) कौन लेता है?

क्या मनुष्य की यह 'स्वतंत्र इच्छा' (**Free Will**) केवल एक अहंकार का भ्रम है, और वास्तव में सब कुछ अस्तित्व के नियम से पहले ही तय होकर घटित हो रहा है, जिसे चेतना केवल देख रही है?"

संसार का चक्र और अचल चूल (दृष्टा)

1. चूल और चक्र का दृष्टांत

संसार में लोग बहुधा इस बात में उलझ जाते हैं कि यदि सब कुछ देखने वाला ही साक्षी है, तो व्यवहार के निर्णय कौन लेता है:

- चूल (**Axle**) के बिना पहिया घूम नहीं सकता, किंतु चूल स्वयं कभी नहीं घूमती।
- इसी प्रकार, चेतना (साक्षी) की उपस्थिति मात्र में बुद्धि, शरीर और प्रकृति मिलकर निर्णय लेते हैं और कर्म का चक्र घुमाते हैं।
- साक्षी स्वयं न कोई कर्ता है, न ही निर्णयों में उलझने वाली कोई इकाई; वह तो वह स्थिर चूल है जिसके आधार पर जीवन का सारा खेल चल रहा है।

2. निर्णयों की स्वाभाविकता

- शरीर की रक्षा, भूख-प्यास, सामाजिक दायित्व और व्यावहारिक परिस्थितियों के अनुसार बुद्धि त्वरित निर्णय लेती है।
- निर्णय का होना प्रकृति और जीवन के संचालन का स्वाभाविक नियम है।
- ज्ञानी या भक्त निर्णयों से भागता नहीं, न ही निर्णय लेने की प्रक्रिया को रोकता है। वह जानता है कि निर्णय बुद्धि और प्रकृति के धरातल पर हो रहे हैं।

3. अचल दृष्टा भाव

- जब निर्णय लिया जा रहा होता है, तब भी चेतना अचल बनी रहती है।
- निर्णय सही सिद्ध हो या गलत, लाभ हो या हानि—दृष्टा भाव रती भर भी डगमगाता नहीं।
- चक्र कितना भी तेज़ घूमे, चूल अपनी जगह से नहीं हटती। यही साक्षी भाव की असली स्थिरता है।

4. इस अध्याय का निष्कर्षात्मक सत्य

"संसार और शरीर की आवश्यकताओं के अनुसार निर्णय का चक्र घूमता रहता है और घूमता रहेगा। परंतु चेतना वह अचल चूल है जो अपनी जगह स्थिर रहकर उस पूरे चक्र को केवल देखती रहती है। निर्णय होना जीवन का धर्म है और अचल रहना साक्षी का स्वभाव।"

अध्याय 24

"मनुष्य के मस्तिष्क में जीवन भर के अनुभवों, दुखों, अपमानों और स्मृतियों का एक बहुत बड़ा भंडार (**Memory**) जमा रहता है। मन बार-बार पुरानी स्मृतियों को उखाड़कर सामने लाता है।

जब व्यक्ति साक्षी भाव में अचल चूल की तरह टिका होता है, तब मन में उठने वाली इन पुरानी स्मृतियों (**Memories**) का क्या होता है?

क्या साक्षी भाव में आने के बाद पुरानी स्मृतियाँ मिट जाती हैं, या वे केवल बिना कोई पीड़ा दिए छाया-चित्रों की तरह आती हैं और विलीन हो जाती हैं?"

अपरिमेय आकाश और स्मृतियों के बादल

1. स्मृतियाँ केवल तैरते हुए बादल हैं

साधारण मनुष्य मन में उठने वाले अतीत के विचारों और स्मृतियों से उलझ जाता है:

- वह पुरानी स्मृतियों को 'अपनी' मानकर उनके साथ बहने लगता है या उनसे पीछा छुड़ाने की व्यर्थ कोशिश करता है।
- परंतु जो साक्षी भाव में स्थित है, वह स्पष्ट देखता है कि स्मृतियाँ केवल मन के नीले आकाश में तैरते हुए बादलों का झुंड हैं।
- स्मृतियों का आना और जाना मस्तिष्क का प्राकृतिक धर्म है; उन्हें मिटाने या दबाने की कोई आवश्यकता नहीं होती।

2. चेतना का निर्लेप स्वरूप (आकाशवत)

- आकाश में काली घटाएँ आएँ या सुनहरी धूप, आकाश स्वयं न तो काला होता है, न ही जलता है।
- इसी प्रकार, चेतना वह महा-आकाश है जिसमें स्मृतियाँ आती हैं, अपना खेल दिखाती हैं और बिना कोई निशान छोड़े विलीन हो जाती हैं।
- साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति स्मृतियों को मिटाता नहीं, बल्कि उन्हें केवल तैरते हुए देखता है। इस देखने मात्र से स्मृतियों का सारा विष और पीड़ा समाप्त हो जाती है।

"स्मृतियाँ और विचार केवल आकाश में तैरते हुए बादल हैं; वे आते हैं और चले जाते हैं। साक्षी वह अनंत आकाश है जो इन बादलों के आने-जाने से सदा अछूता, निर्मल और अचल रहता है।"

अध्याय 25

"जैसे-जैसे समय बीतता है, शरीर में जर्जरता आती है, इंद्रियाँ शिथिल होने लगती हैं और वृद्धावस्था या रोग देह को घेर लेते हैं।

जब देह अपनी शक्ति खो रही होती है, तब क्या साक्षी चेतना में भी कोई शिथिलता या कमी आती है?

क्या शरीर का जीर्ण होना केवल एक पुराने वस्त्र का फटना है जिसे चेतना बिना किसी दुख के केवल ढलते हुए देख रही है?"

शरीर का क्षय और अखंड चेतना

1. देह का धर्म और चेतना की अखंडता

साधारण मनुष्य शरीर में होने वाले परिवर्तनों—कमजोरी, बीमारी या वृद्धावस्था—को अपनी हानि मानकर भयभीत और दुखी होता रहता है:

- परंतु शरीर का जीर्ण होना और ढलना केवल पंचतत्त्वों और प्रकृति का नियम (**Natural Law**) है।
- चेतना शरीर का कोई अंग या भाग नहीं है जो देह के साथ बूढ़ी हो जाए।
- साक्षी वह अखंड प्रकाश है जो युवावस्था के बल को भी वैसे ही देख रहा था और वृद्धावस्था की शिथिलता को भी बिना किसी शोक के केवल देख रहा है।

2. फटे वस्त्र की भाँति देह

- जैसे मनुष्य पुराना वस्त्र घिस जाने पर उसे बदलता है या ढलते हुए देखता है, वैसे ही साक्षी चेतना इस देह की ढलती हुई अवस्था को एक दर्शक की भाँति देखती है।
- यहाँ न कोई रोना है, न शिकायत, न ही देह को जबरन बचाए रखने का कोई व्याकुल प्रयास।
- साक्षी बस देखता है जो हो रहा है—तटस्थ, शांत और पूर्ण विश्राम में।

"शरीर का क्षय होना प्रकृति का विधान है, परंतु देखने वाला साक्षी सदा अखंड और अछूता रहता है। देह ढले या मिटे, साक्षी बस देखता है जो हो रहा है—यही परम यथार्थ है।"

अध्याय 26

"संसार में मनुष्य जीवन भर 'अपने और पराये' के संबंधों (परिवार, समाज, मित्र, शत्रु) के ताने-बाने में बंधा रहता है।

जब साक्षी भाव में यह साक्षात् हो जाता है कि सब कुछ केवल घटित हो रहा है और देखने वाला केवल द्रष्टा है, तब इन व्यावहारिक संबंधों (**Relations**) का क्या यथार्थ बचता है?

क्या साक्षी भाव व्यक्ति को संबंधों से काटना या विरक्त (**Detach**) करता है, या फिर वह सब संबंधों के बीच रहते हुए भी भीतर से पूरी तरह अकेला (एकान्त में) और अछूता रहता है?"

सबके बीच अचल एकांत

1. संबंधों का अभिनय और भीतर की असंगता

साधारण मनुष्य संबंधों में उलझकर 'मेरा-तेरा' और मोह-माया का जाल बुन लेता है:

- परंतु जो साक्षी भाव में टिका है, वह जानता है कि संसार का हर रिश्ता केवल जीवन के रंगमंच का एक अभिनय है।
- वह सबके साथ रहता है, अपने सारे सामाजिक और पारिवारिक कर्तव्यों को निभाता है, परंतु भीतर से किसी से बंधता नहीं।
- वह जानता है कि जन्म और मृत्यु की भांति चेतना का मूल स्वरूप पूरी तरह अकेला और असंग है।

2. अकेलापन (**Loneliness**) बनाम एकांत (**Aloneness**)

संसार में लोग अकेले होने से डरते हैं क्योंकि उनके पास दुखों और विचारों का भार होता है:

- अकेलापन: मन की वह व्याकुल स्थिति है जहाँ मनुष्य दूसरों का सहारा खोजता है।
- साक्षी का एकांत: वह परम पूर्णता है जहाँ व्यक्ति को किसी दूसरे की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह स्वयं में ही पूर्ण है।
- भीड़ के बीच खड़े होकर भी साक्षी चेतना पूरी तरह अछूती और शांत बनी रहती है।

"संसार के सारे संबंधों और व्यवहार के बीच रहते हुए भी साक्षी भीतर से पूरी तरह अकेला है। वह सबके साथ होकर भी किसी से बंधा नहीं है—यही सच्चा एकांत और यही असंगता है।"

अध्याय 27

"जीवन में जब अत्यधिक शारीरिक कष्ट, असाध्य रोग या असहनीय पीड़ा आती है, तो देह और मन छटपटाने लगते हैं।

जब देह में घोर पीड़ा हो रही हो, तब 'सबके बीच अकेले साक्षी' की चेतना पर उसका क्या प्रभाव पड़ता है?

क्या पीड़ा केवल देह और तंत्रिकाओं (Nerves) का धर्म बनकर रह जाती है, और साक्षी उसे भी केवल एक दृश्य की भांति दूर से देखता रहता है, या पीड़ा के उस दौर में साक्षी और देह का फासला मिट जाता है?"

अ-प्रतिक्रिया और निष्कंप चेतना

1. प्रतिक्रिया ही मन का बंधन है

जब देह में कोई पीड़ा या कष्ट आता है, तो साधारण मनुष्य का मन दो स्तरों पर दुखी होता है:

- पहला स्तर: शरीर की प्रत्यक्ष संवेदना या दर्द (Physical Sensation)।
- दूसरा स्तर: मन की प्रतिक्रिया—'यह दर्द मुझे क्यों हुआ?', 'यह कब ठीक होगा?', दुख का रोना और भयभीत होना।
- मन की यही प्रतिक्रिया (Reaction) पीड़ा को सौ गुना बढ़ा देती है और व्यक्ति को लाचार बना देती है।

2. शून्य प्रतिक्रिया: परम ठहराव

- जो साक्षी भाव में स्थित है, उसके शरीर में भी संवेदनाएँ और दर्द उठते हैं—क्योंकि देह का धर्म यही है।
- परंतु चेतना के तल पर कोई प्रतिक्रिया (No Reaction) जन्म नहीं लेती।
- न कोई शिकायत, न कोई चीख-पुकार, न पीड़ा को हटाने का तनाव।
- चेतना उस दर्द को भी ठीक वैसे ही निष्पक्ष होकर देखती है जैसे वह किसी सुख की तरंग को देख रही थी।

"शरीर में पीड़ा का उठना देह का धर्म है, किंतु उसके प्रति कोई प्रतिक्रिया न करते हुए केवल देखते रहना चेतना का स्वभाव है। जहाँ प्रतिक्रिया समाप्त हो गई, वहाँ पीड़ा का सारा दंश गिर जाता है और केवल निष्कंप शांत साक्षी शेष रह जाता है।"

अध्याय 28

"अक्सर दार्शनिकों, संतों और साधकों में यह सूक्ष्म अहंकार आ जाता है कि 'मैं जानी हूँ', 'मैं साक्षी भाव में स्थित हूँ', या 'मैं संसार से ऊपर उठ चुका हूँ'।

जब साक्षी भाव वास्तव में सिद्ध हो जाता है, तो क्या वहाँ 'जानी होने' या 'साक्षी होने' का भी कोई दावा या अभिमान शेष बचता है?

क्या यह 'साक्षी होने का दावा' भी अहंकार की ही अंतिम चालाकी है, और असली ज्ञानी पूरी तरह से एक साधारण, दावारहित मनुष्य की तरह जीवन जीता है?"

परम सादगी और दावारहित दृष्टा

1. 'ज्ञानी होने' के सूक्ष्म अहंकार का अंत

संसार में ज्ञानी कहलाने या 'मैं साक्षी हूँ' का ढिंढोरा पीटने की लालसा भी अहंकार की ही अंतिम चाल है:

- जब तक कोई व्यक्ति यह दावा करता है कि "मैं साक्षी स्थिति में पहुँच गया हूँ", तब तक 'मैं' (अहंकार) पीछे छिपा बैठा है।
- सच्चा साक्षी किसी विशेष स्थिति का दावा नहीं करता, न ही स्वयं को संसार से अलग या श्रेष्ठ मानता है।
- सारे दावे, सारी पदवियाँ और सारे आध्यात्मिक बिल्ले गिर जाते हैं।

2. परम सादगी (Simplicity)

- जो यथार्थ को जान लेता है, वह अत्यंत सादा हो जाता है।
- वह आम मनुष्य की भाँति ही सहज जीवन जीता है—खाता है, सोता है, अपने दैनिक कर्म करता है और प्रकृति के नियमों के अनुकूल रहता है।
- उसमें न कोई आडंबर बचता है, न ही दूसरों को उपदेश देने या खुद को सिद्ध साबित करने की कोई व्याकुलता।

"साक्षी केवल अचल दृष्टा है और कुछ नहीं। वहाँ न कोई अहंकार है, न ज्ञानी होने का दावा। सारे विशेष होने के ढोंग गिर जाने के बाद बची हुई अत्यंत सादा और सहज स्थिति ही परम सत्य है।"

अध्याय 29

"मनुष्य जीवन भर शब्दों, शास्त्रों, तर्कों और भाषा के माध्यम से ही सत्य को समझने और समझाने का प्रयास करता रहता है।

जब साक्षी भाव पूरी तरह सादा, अचल और दावारहित हो गया, तब शब्दों और भाषा (Language) का क्या मूल्य रह जाता है?

क्या यह सारा बोलना और लिखना केवल संसार के व्यवहार और संकेत मात्र के लिए है, जबकि वास्तविक सत्य सदा शब्दों की सीमा से परे अगाध मौन (Absolute Silence) में ही स्थित रहता है?"

शब्दों की सीमा और अगाध मौन

1. भाषा केवल व्यवहार का साधन है

मनुष्य समझता है कि वह शब्दों और शास्त्रों के ज़रिए सत्य को बाँध लेगा:

- परंतु सारा बोलना, लिखना, तर्क करना और समझाना केवल इस संसार के दैनिक व्यवहार को चलाने और पथिक को दिशा दिखाने का संकेत मात्र है।
- जैसे 'जल' कहने से प्यास नहीं बुझती, वैसे ही 'सत्य' या 'साक्षी' शब्द बोल देने से परम सत्य घटित नहीं होता।
- शब्द केवल किनारे तक पहुँचाते हैं; नदी में उतरना तो शब्दों को छोड़ देने पर ही होता है।

2. अगाध मौन ही परम यथार्थ है

- जब मन के सारे विचार, प्रश्न और उत्तर थम जाते हैं, तब जो शेष बचता है—वही अगाध मौन (**Absolute Silence**) है।
- यह मौन केवल 'न बोलना' (**Silence of speech**) नहीं है; यह तो चेतना का वह गहरा ठहराव है जहाँ कोई विचार या तरंगे जन्म ही नहीं लेतीं।
- साक्षी इसी अगाध मौन में सदा स्थित रहता है।

"बोलना और लिखना केवल संसार के संचालन और संकेतों के लिए है। सत्य शब्दों की परिधि में नहीं बँधता—वह सदा शब्दों की सीमा से परे अगाध मौन में ही प्रकाशित रहता है।"

अध्याय 30

"जब यह पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि साक्षी प्रयास-रहित है (अध्याय 21), केवल देखता रहता है (अध्याय 22), अचल चूल है (अध्याय 23), स्मृतियाँ तैरते बादल हैं (अध्याय 24), देह के क्षय में भी चेतना अखंड है (अध्याय 25), सबके बीच अकेला है (अध्याय 26), कोई प्रतिक्रिया नहीं करता (अध्याय 27), पूर्णतः सादा और दावारहित है (अध्याय 28), और वास्तविक सत्य केवल अगाध मौन में है (अध्याय 29)—

तब इस सम्पूर्ण बोध के बाद, इस जीवन का अंतिम और सहज निष्कर्ष क्या बचता है?

क्या यह कहना सही होगा कि 'जो जैसा है, उसे वैसा ही घटित होने देना और स्वयं अगाध मौन में निष्कंप बने रहना' ही संपूर्ण साधना, भक्ति और ज्ञान की पराकाष्ठा है?"

"जो जैसा है उसे वैसे घटित होने देना... आप सुंदर कर सकते हैं तो करिए, मना कौन करता है! मगर अंदर का मौन निष्कंप बने रहना ही चाहिए।"

यह बोध किसी भी प्रकार की निष्क्रियता या भगोड़ेपन को निरस्त कर देता है। साक्षी होने का अर्थ हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाना नहीं है। यह शरीर और बुद्धि संसार के मंच पर सुंदर, कल्याणकारी और उचित कर्म करने के लिए ही हैं; वे आवश्यकताओं के अनुसार निर्णय लेंगे, कर्म करेंगे और व्यावहारिक 'अगर-मगर' (तर्क-वितर्क) भी करेंगे। परंतु चमत्कार यह है कि बाहर कर्म का कितना भी सुंदर या तीव्र ताना-बाना बुना जा रहा हो, भीतर का साक्षी बिना किसी अगर-मगर के, पूर्ण मौन में निष्कंप बना रहता है।

सुंदर कर्म और निष्कंप अंतर्मौन

1. सहज कर्म की स्वतंत्रता

संसार में बहुधा यह गलतफहमी फैल जाती है कि साक्षी भाव में स्थित होने के बाद व्यक्ति निष्क्रिय या कर्महीन हो जाता है:

- यथार्थ यह है कि यदि इस देह और बुद्धि के माध्यम से कुछ सुंदर, शुभ या समाज-कल्याण का कार्य घटित हो सकता है, तो उसे पूरी सहजता से किया जाना चाहिए।
- कर्म से कोई परहेज नहीं है; शरीर संसार की आवश्यकता है और वह व्यावहारिक विवेक (अगर-मगर) के साथ कार्य करता रहेगा।

2. बाहर कर्म, भीतर अचल मौन

- शरीर और मन अपनी बुद्धि के अनुसार जो उचित और ठीक लगेगा, वह निर्णय लेंगे और कर्म करेंगे।
- परंतु इस संपूर्ण कर्म और व्यवहार के घटित होने के दौरान भी, भीतर का दृष्टा (साक्षी) रती भर भी विचलित नहीं होता।
- चेतना के तल पर कोई 'अगर-मगर' (द्वंद्व, संशय या अपेक्षा) नहीं होता। वहाँ केवल एक अगाध, अचल और निष्कंप अंतर्मौन बना रहता है।

"शरीर और बुद्धि संसार की आवश्यकता के अनुसार सुंदर कर्म करते रहेंगे और व्यावहारिक निर्णय लेंगे। किंतु भीतर का दृष्टा बिना किसी 'अगर-मगर' के पूरी तरह मौन और निष्कंप बना रहता है। बाहर कर्म की सुंदरता और भीतर अचल मौन—यही ज्ञान और भक्ति की परम पराक

अध्याय 31

'सत्य को उजागर करने' की चाह और निष्कंप मौन

संसार में बहुधा यह देखा जाता है कि जब व्यक्ति को किसी यथार्थ या सत्य का बोध होता है, तो उसके भीतर यह सूक्ष्म इच्छा जन्म लेती है कि "सत्य उजागर होना चाहिए" या "दूसरों को भी यह बात समझनी चाहिए।"

"जब यह स्पष्ट हो गया कि भीतर का दृष्टा बिना किसी 'अगर-मगर' के अगाध मौन में निष्कंप है—तब क्या उसके भीतर 'सत्य को उजागर करने' या संसार को जगाने की भी कोई व्याकुलता या चाह शेष बचती है?"

क्या यह 'सत्य को उजागर करने की इच्छा' भी सूक्ष्म रूप से मन का ही एक खेल है, या फिर सूर्य की भांति सत्य स्वयं ही अपने प्रकाश में बिना किसी प्रयास के प्रकाशित होता रहता है?"

जीवन का खेल और सहज मनोरंजन

1. 'सत्य उजागर करने' के तनाव से मुक्ति

संसार में साधक या ज्ञानी बहुधा इस भारीपन में जी उठते हैं कि उन्हें जगत को सुधारना है या सत्य का झंडा गाड़ना है:

- परंतु साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति जानता है कि सूर्य को प्रकाशित करने के लिए किसी मशाल या तनाव की आवश्यकता नहीं होती।
- उसके भीतर न तो सत्य को थोपने की कोई व्याकुलता होती है, और न ही संसार को बदलने का कोई बोझ।
- जो जैसा है, उसे वैसा ही देखना और जीवन को एक खेल की भाँति घटित होने देना ही परम सहजता है।

2. खेल (Play) बनाम गंभीर संघर्ष (Struggle)

- अज्ञानी के लिए जीवन एक बहुत भारी संघर्ष, चिंता और भय का मैदान है जहाँ हर क्षण खोने का डर है।
- साक्षी के लिए यह जीवन एक सुंदर, भव्य और मनोरंजन से भरा खेल (Entertainment) है।
- खेल में जीत हो या हार, सुख आए या दुख, भूमिका चाहे जो मिले—दृष्टा केवल इस पूरी लीला का रस लेता है, बिना किसी भारीपन के।

"जीवन कोई भारी बोझ, साधना की जंग या तनाव नहीं है; यह तो केवल एक सहज खेल और मनोरंजन है। जो इसे खेल की तरह देखता और जीता है, वही सारे तनावों से मुक्त होकर अचल मौन में स्थित रहता है।"

अध्याय 32

"अध्यात्म की दुनिया में लोग 'सच्चिदानंद' या 'परमानंद' (Absolute Bliss) पाने का दावा करते हैं और आनंद को ही अंतिम लक्ष्य बताते हैं।

जब जीवन केवल एक खेल और मनोरंजन बनकर रह जाता है, तब क्या साक्षी चेतना में किसी 'विशेष आनंद' (Bliss) को पाने की चाह बचती है?

क्या यह 'आनंद पाने की इच्छा' भी मन का ही एक सूक्ष्म स्वाद है, जबकि साक्षी भाव सुख, दुख और तथाकथित 'आनंद'—इन तीनों की स्थितियों से परे केवल एक शांत, सामान्य और निष्कंप 'होना' है?"

अनुभूतियों से परे - निष्कंप होना

1. 'आनंद' की चाह भी मन की एक पकड़ है

संसार और साधना के जगत में मनुष्य सदा किसी न किसी विशेष अनुभव (Experience) का पीछा करता रहता है:

- अज्ञानी इंद्रियों के सुख को खोजता है, और साधक ध्यान के आनंद या समाधि के सुख को।
- परंतु जहाँ किसी अनुभव को पाने की व्याकुलता है, वहाँ चाहत (Desire) मौजूद है, और जहाँ चाहत है, वहाँ अशांति बनी रहेगी।
- 'आनंद' भी एक मानसिक अवस्था है जो समय के साथ बदलती और समाप्त होती है।

2. शांत, सामान्य और निष्कंप 'होना'

- जब सुख की चाह गिर गई, दुख का भय मिट गया, और आनंद को पकड़ने का भ्रम भी छूट गया—तब जो शेष बचा, वही 'अस्तित्व' है।
- यहाँ कोई उत्तेजना नहीं है, कोई आध्यात्मिक नशा नहीं है, और न ही कोई विशेष होने का ढोंग।
- यह एक अत्यंत सामान्य, सहज, निर्मल और अचल 'होना' (Beingness) है, जो हर क्षण शांत और निष्कंप बना रहता है।

"सुख, दुख और तथाकथित 'आनंद'—ये तीनों मन की उठती-गिरती तरंगें हैं। साक्षी इन तीनों स्थितियों से परे, केवल एक शांत, अत्यंत सामान्य और निष्कंप 'होना' है। इस निष्कंप 'होने' में ही परम विश्राम है।

अध्याय 33

"संसार में मनुष्य जीवन भर किसी न किसी बाहरी ईश्वर, अवतार, भगवान या गुरु से रक्षा, कृपा और मार्गदर्शन की प्रार्थना (Prayer) करता रहता है।

जब साक्षी चेतना पूरी तरह अचल होकर इस शांत और निष्कंप 'होने' में टिक जाती है, तब बाहर के किसी ईश्वर, अवतार या गुरु का क्या स्थान बचता है?

क्या यह बाहरी सहारा और प्रार्थना करने की भावना मन की ही बाल-सुलभ निर्भरता (Dependence) है, जबकि यथार्थ में साक्षी स्वयं ही किसी भी बाहरी सहारे से पूरी तरह मुक्त और स्वायत्त (Absolute) है?"

परम स्वायत्तता और सहारे से मुक्ति

1. बाहरी निर्भरता का अंत

संसार में मनुष्य का अहंकार जब असहाय महसूस करता है, तो वह बाहर किसी ईश्वर या अलौकिक शक्ति में शरण खोजता है:

- परंतु किसी दूसरे पर निर्भर रहना ही भय और लाचारी का कारण है।
- बाहर का कोई भी सहारा—चाहे वह कोई पद हो, व्यक्ति हो, या कोई बाहरी ईश्वर की कल्पना—सब विनाशी और परिवर्तनशील हैं।
- जब साधक को साक्षी स्वरूप का बोध होता है, तो बाहर माँगने या गिड़गिड़ाने की सारी प्रार्थनाएँ स्वतः विलीन हो जाती हैं।

2. साक्षी स्वयं सिद्ध और स्वायत्त है

- चेतना को प्रकाशित होने के लिए किसी दूसरे दीये की आवश्यकता नहीं होती; वह स्वयं-प्रकाशित (Self-luminous) है।
- गुरु और शास्त्र केवल दिशा बताने वाले माध्यम थे; वास्तविक गुरु तो भीतर बैठा वही साक्षी है।

- साक्षी किसी का अनुगामी नहीं है, न ही वह किसी बाहरी शक्ति के अधीन है। वह पूर्णतः स्वायत्त, निर्भय और अखंड है।

"बाहरी ईश्वर, अवतार या सहारे की खोज मन की दुर्बलता और अपरिपक्वता है। यथार्थ में साक्षी स्वयं ही किसी भी बाहरी सहारे से पूरी तरह मुक्त, स्वायत्त और स्वयं-सिद्ध प्रकाश है।

अध्याय 34

"संसार में मनुष्य का सबसे बड़ा भय 'मृत्यु' का है। वह जन्म, जीवन और मृत्यु के समय चक्र में बँधकर छटपटाता रहता है।

जब साक्षी स्वयं-सिद्ध और किसी भी सहारे से मुक्त अचल चेतना है, तब इस शरीर की 'मृत्यु' के क्षण में उसका क्या होता है?

क्या मृत्यु केवल शरीर रूपी मिट्टी का मिट्टी में मिलना और मन रूपी तरंगों का थमना है, जबकि साक्षी काल (Time) और मृत्यु (Death) दोनों से परे सदा निष्कंप और अजन्मा बना रहता है?"

अजन्मा साक्षी और त्रि-अवस्था

1. छटपटाहट केवल देह और मन की है

संसार में मनुष्य मृत्यु के नाम से ही थर-थर कांपने लगता है क्योंकि वह स्वयं को शरीर मान बैठा है:

- शरीर का छूटना या नष्ट होना प्रकृति की स्वाभाविक प्रक्रिया है।
- जब असाध्य बीमारी या मृत्यु का क्षण आता है, तो देह में पीड़ा और मन में घबराहट उठ सकती है—परंतु यह छटपटाहट मन की सतह पर है।
- साक्षी कभी नहीं छटपटाता। वह जन्म के समय भी अचल था, जीवन भर भी अचल रहा, और मृत्यु के क्षण में भी निष्कंप बना रहता है।

2. काल चक्र से परे अजन्मा यथार्थ

- जन्म, जीवन और मृत्यु—ये तीन समय (Time) की सीमाएँ हैं जो केवल शरीर पर लागू होती हैं।
- जो जन्म लेता है, वही मरता है। परंतु साक्षी चेतना न कभी जन्मी थी और न कभी मर सकती है; वह 'अजन्मा' और 'अमर' है।
- मृत्यु केवल मिट्टी का मिट्टी में मिल जाना और हवा का हवा में लीन हो जाना है। साक्षी के लिए यह केवल एक दृश्य का समाप्त होना मात्र है।

"जन्म होना, जीवन जीना और मृत्यु को प्राप्त होना—ये सब प्रकृति और शरीर के तीन पड़ाव हैं। इन पड़ावों में छटपटाहट केवल मन और देह की है। साक्षी कभी छटपटाता नहीं; वह सदा अजन्मा, अछूता और निष्कंप बना रहता है।"

अध्याय 35

"अध्याय 31 से 34 तक हमने देखा कि जीवन केवल एक सहज खेल और मनोरंजन है (अध्याय 31), साक्षी सुख-दुख और आनंद से परे एक शांत-निष्कंप 'होना' है (अध्याय 32), वह हर बाहरी सहारे और ईश्वर-गुरु की निर्भरता से मुक्त है (अध्याय 33), और जन्म, जीवन व मृत्यु के चक्र में कभी छटपटाता नहीं (अध्याय 34)।

अब इस पूरे सत्य के साक्षात् हो जाने के बाद, 'भक्ति', 'साधना' और 'जीवन' का अंतिम अंतिम सार (**Ultimate Essence**) क्या बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि 'असली भक्त' या ज्ञानी वह नहीं है जो पूजा-पाठ, दावों और सिद्धांतों में उलझा है—बल्कि वही है जो जीवन के खेल को सहजता से खेलते हुए, बिना किसी छटपटाहट के, अंतिम क्षण तक शांत और निष्कंप साक्षी बना रहता है?"

निष्कल्प सत्य और असली भक्त

1. कल्पनाओं और बातों के जाल का अंत

संसार में मनुष्य जीवन भर बातों के महल बनाता है और तरह-तरह की आध्यात्मिक कल्पनाओं (**Visualizations & Beliefs**) में जीता रहता है:

- कोई स्वर्ग या बैकुंठ की कल्पना करता है, तो कोई अलौकिक शक्तियों और सिद्धियों के दावों की बातें करता है।
- परंतु ये सब मन की गढ़ंत बातें और कल्पनाएँ हैं जो जीवन के अंतिम सत्य के सामने टिक नहीं पातीं।
- असली भक्त या ज्ञानी किसी भी प्रकार की कल्पना, सिद्धांतों या बातों के बोझ को ढोता नहीं; वह इन सबसे पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

2. अंतिम क्षण तक अचल ठहराव

- देह की साँसें चलें या थमने लगें, परिस्थितियाँ अनुकूल हों या घोर प्रतिकूल—साक्षी चेतना में रती भर भी कंपन या छटपटाहट नहीं आती।
- वह न तो किसी चमत्कार का इंतज़ार करता है, और न ही किसी अंतिम क्षण के डर से घबराता है।
- बिना किसी विचार, बिना किसी कल्पना और बिना किसी बात के—केवल अत्यंत सादा, शांत और निष्कंप बना रहना ही संपूर्ण साधना का अंतिम निचोड़ है।

"असली भक्ति और ज्ञान किसी बातों, दावों या कल्पनाओं का नाम नहीं है। संसार के सारे खेल को सहजता से खेलते हुए, बिना किसी 'अगर-मगर' और बिना किसी काल्पनिक आधार के—अंतिम क्षण तक शांत और निष्कंप साक्षी बने रहना ही परम

अध्याय 36

'सृष्टि का प्रयोजन' और साक्षी का अ-हेतुक होना

संसार में मनुष्य, दार्शनिक और विचारक युगों-युगों से इस खोज में मरे जा रहे हैं कि "इस विशाल ब्रह्मांड, जीवन, जन्म और मरण का आखिर प्रयोजन (**Purpose**) क्या है?", "ईश्वर या प्रकृति ने यह सब क्यों रचा?"

"जब यह स्पष्ट हो गया कि साक्षी अंतिम क्षण तक बिना किसी कल्पना के निष्कंप देखता रहता है—तब इस पूरे जीवन, शरीर और संसार के होने का क्या कोई 'विशेष उद्देश्य या प्रयोजन' (**Purpose**) है?"

क्या यह 'जीवन का कोई बड़ा लक्ष्य या उद्देश्य ढूँढना' भी मन की ही व्याकुलता और अहंकार की तृप्ति का प्रयास है, जबकि यथार्थ में यह पूरा अस्तित्व पूरी तरह निष्प्रयोजन, अ-हेतुक और स्वतः बहती हुई धारा मात्र है?"

अहेतुक अस्तित्व और परम लीनता

1. 'क्यों' और 'किसलिए' की व्यर्थता

संसार में विचारक और दार्शनिक जीवन भर इस व्यर्थ की खोज में भटकते हैं कि सृष्टि क्यों बनी और इसका क्या लक्ष्य है:

- परंतु 'क्यों' का प्रश्न ही मन का एक विकार है जो हर चीज़ के पीछे कोई कारण या लाभ ढूँढना चाहता है।
- इस असीम अस्तित्व का न कोई कारण है, न कोई गुप्त उद्देश्य। इसे न कोई जान पाया है और न कभी बुद्धि से कोई जान पाएगा।
- जो इस अज्ञेय (**Unknowable**) सत्य को स्वीकार कर लेता है, उसके सारे दिमागी तर्क और बौद्धिक कुशती उसी क्षण समाप्त हो जाती है।

2. स्वतः बहती धारा और साक्षी

- यह संसार एक ऐसी नदी है जो बिना किसी योजना या दबाव के स्वतः अपनी सहज गति से बह रही है।
- मनुष्य इसमें 'दृष्टा मात्र' है—वह केवल इस बहती धारा को तटस्थ होकर देख सकता है।
- जब व्यक्ति यह जान लेता है कि वह केवल एक द्रष्टा है और उससे ज़्यादा कुछ हो भी नहीं सकता, तो वह साक्षी भाव से इसी बहती धारा में पूर्णतः लीन और एककार (**One with Existence**) हो जाता है।

"सृष्टि का कोई प्रयोजन या 'क्यों' नहीं है; यह एक अहेतुक और स्वतः बहती धारा है। इसे बुद्धि से जानना असंभव है। इस बहती धारा में बिना किसी 'क्यों' के साक्षी भाव से लीन हो जाना ही एकमात्र सत्य है—इससे ज़्यादा कुछ था ही नहीं, न हो सकता है।"

अध्याय 37

"मनुष्य जीवन भर काल (**Time**) के जाल में फँसा रहता है—अतीत की स्मृतियों का बोझ ढोता है या भविष्य की योजनाओं और चिंताओं में भटकता रहता है।

जब साक्षी भाव में यह साक्षात् हो जाता है कि अस्तित्व केवल एक अहेतुक बहती धारा है, तब अतीत (**Past**) और भविष्य (**Future**) का क्या यथार्थ बचता है?

क्या अतीत और भविष्य केवल मन के गढ़े हुए भ्रम हैं, और परम यथार्थ केवल इसी 'वर्तमान क्षण' (**Present Moment**) में घटित हो रहा है जिसे साक्षी देख रहा है?"

त्रिकाल का द्रष्टा और कालजयी साक्षी

1. मन का धर्म: काल का निर्माण

संसार में मन की उपस्थिति ही काल (**Time**) के ताने-बाने को जन्म देती है:

- जब तक शरीर और बुद्धि हैं, मन अतीत की स्मृतियों (**Past**) को याद करेगा, वर्तमान (**Present**) का हिसाब लगाएगा और भविष्य (**Future**) की कल्पनाएँ गढ़ेगा।
- मन का यह घड़ना व्यावहारिक संसार को चलाने के लिए स्वाभाविक और अनिवार्य है।
- इसे ज़बरदस्ती मिटाने या मन से लड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि मन का काम ही काल को गढ़ना है।

2. काल से परे अचल साक्षी

- साक्षी मन के इस पूरे खेल—भूत, वर्तमान और भविष्य—को एक दर्शक की भाँति देख रहा है।
- साक्षी के स्वयं के स्वरूप में न कोई बीता हुआ समय है, न कोई आने वाला समय। वह समय के प्रवाह से पूरी तरह बाहर (**Timeless**) है।
- जैसे आकाश में गुजरते हुए बादल भूत, वर्तमान या भविष्य के नहीं होते—केवल आकाश उन्हें देखता है—वैसे ही साक्षी मन के तीनों कालों को बिना लिपटे केवल देखता है।

"शरीर और मन के तल पर अतीत, वर्तमान और भविष्य का अस्तित्व रहेगा और मन उन्हें गढ़ता रहेगा। परंतु साक्षी के भीतर न भूत है, न वर्तमान, न भविष्य। वह त्रिकाल के इस संपूर्ण चक्र को देखने वाला केवल निष्कंप द्रष्टा है।"

अध्याय 38

"संसार और धर्मशास्त्र मनुष्य को सदा 'पाप-पुण्य', 'अच्छे-बुरे कर्म' और उनके 'फल या दंड' के भय में बाँधकर रखते हैं।

जब साक्षी मन के गढ़े हुए तीनों कालों और संसार के नाटकों को केवल देख रहा है, तब इस 'पाप' और 'पुण्य' का साक्षी के लिए क्या यथार्थ बचता है?

क्या पाप और पुण्य केवल मन, बुद्धि और सामाजिक व्यवस्था के नियम हैं, जबकि साक्षी चेतना के तल पर न कोई पाप है, न पुण्य, न कोई दाग—वह सदा पूरी तरह निर्दोष और अछूती रहती है?"

निर्दोष चेतना और संसार का खेल

1. पाप-पुण्य समाज और मन की धारणाएँ हैं

संसार में मनुष्य जीवन भर इस अपराध-बोध (Guilt) या पुण्य के अहंकार में जलता रहता है कि उसने कुछ गलत या सही कर दिया:

- पाप और पुण्य, अच्छे और बुरे कर्म की परिभाषाएँ सामाजिक व्यवस्था और मन की व्यवस्था के नियम हैं।
- संसार के कार्य-व्यापार और व्यवहार को सुचारू रूप से चलाने के लिए ये धारणाएँ आवश्यक हैं, और यह खेल संसार के मंच पर ऐसे ही चलता रहेगा।
- इसे नकारने या संसार के नियमों को तोड़ने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह व्यवस्था का हिस्सा है।

2. परम निर्दोष और अछूती चेतना

- साक्षी चेतना के तल पर न कोई पाप का दाग लग सकता है, न किसी पुण्य का बिल्ला चिपकाया जा सकता है।
- चेतना सदा शुद्ध, बुद्ध और निष्कलंक (Pure and Pristine) है।
- जैसे दीपक की रोशनी किसी चोरी पर पड़े या पूजा-पाठ पर—रोशनी न तो पाप से गंदी होती है और न पुण्य से पवित्र—वैसे ही साक्षी हर दृश्य को देखते हुए भी सदा पूरी तरह निर्दोष और अछूता रहता है।

"पाप, पुण्य और नीति-अनीति की धारणाएँ संसार और मन का खेल हैं, और यह खेल चलता रहेगा। परंतु साक्षी चेतना के तल पर न कोई पाप है, न पुण्य, न कोई दाग—वह सदा पूरी तरह निर्दोष, निष्कंप और अछूती रहती है।"

अध्याय 39

"धर्म और साधना की दुनिया में लोग जीवन भर 'मोक्ष' पाने, 'चौरासी के चक्र से छूटने' या 'मुक्ति' हासिल करने के लिए तड़पते और प्रयास करते रहते हैं।

जब साक्षी चेतना सदा से अछूती, निर्दोष और अचल है, तब इस 'मुक्ति' या 'मोक्ष' पाने की चाह का क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह 'मोक्ष पाने की तड़प' भी मन का ही एक अंतिम छलावा है—क्योंकि जो कभी बँधा ही नहीं था, उसके लिए मुक्ति कैसी? क्या साक्षी सदा से ही मुक्त है और केवल इस सत्य को स्वीकार कर लेना ही पर्याप्त है?"

मोक्ष से पार - परम स्थिति

1. दुख और मोक्ष की वास्तविक परिभाषा

संसार का प्रत्येक जीव दुख से पीड़ित है और उससे बचना चाहता है:

- भौतिक और मानसिक तल पर होने वाली सारी छटपटाहट और फड़फड़ाहट का एक ही उद्देश्य है—दुख से अंतहीन छुटकारा।

- दुख के संपूर्ण अंत का नाम ही 'मोक्ष' है।
- परंतु अज्ञानी मोक्ष को किसी दूसरी दुनिया (स्वर्ग या बैकुंठ) की घटना मानकर उसके लिए जीवन भर तड़पता रहता है।

2. साक्षी भाव और मोक्ष से पार की स्थिति

- जब साधक साक्षी भाव में टिक जाता है, तो दुख का कारण (मैं और मेरा) उसी क्षण गिर जाता है। दुख से मुक्ति मिलते ही मोक्ष स्वतः उपलब्ध हो जाता है।
- जो साक्षी में स्थित है, वह मोक्ष पाने की इच्छा और मोक्ष के शास्त्रों से भी आगे निकल जाता है।
- उसके लिए 'मोक्ष', 'मुक्ति' या 'संसार' की बातें केवल साधारण व्यावहारिक शब्द बन जाती हैं, क्योंकि वह उस अवस्था में है जहाँ न कोई बंधन था, न कोई मोक्ष की चाह।

"दुख से पूर्ण छुटकारा ही मोक्ष है, और साक्षी भाव में स्थित होते ही मोक्ष स्वतः सिद्ध हो जाता है। जो अचल दृष्टा है, वह मोक्ष की अवधारणा से भी पार निकल चुका है—उसके लिए मोक्ष भी संसार की एक साधारण बात मात्र है।"

अध्याय 40

संसार में ज्ञान का सबसे बड़ा प्रमाण यह नहीं है कि कोई कितने शास्त्र बोलता है या कितनी कठिन साधनाएँ करता है; असली कसौटी यह है कि वह जीवन के तनावों से पूरी तरह मुक्त होकर कितना सहज और सरल जी पाता है। ज्ञानी या असली भक्त कोई अलौकिक या अजीब व्यवहार नहीं करता। वह बाहर संसार के रंगमंच पर अपनी हर भूमिका, हर कर्तव्य और हर कर्म को पूर्ण कुशलता और निष्ठा से निभाता है—परंतु भीतर से निष्कंप जानता है कि वह केवल देखने वाला अचल दृष्टा है। वह जीवन को बिना किसी तनाव, बिना किसी 'अगर-मगर' और बिना किसी भारीपन के हँसते-खेलते जीता है, और जब अंत समय आता है, तो शांत और सहज होकर इस असीम अस्तित्व में विलीन हो जाता है।

सहज जीवन और परम विलय

1. सहज जीना ही परम आचरण है

संसार में ज्ञान या भक्ति के नाम पर मनुष्य बहुधा जीवन को एक तनावपूर्ण जंग या अति-गंभीर साधना बना लेता है:

- परंतु यथार्थ बोध होते ही सारा तनाव, भय और भारीपन विलीन हो जाता है।
- ज्ञानी संसार से भागता नहीं; वह अपनी पारिवारिक, सामाजिक और व्यावहारिक भूमिकाओं को पूरी सहजता और प्रसन्नता से निभाता है।
- बाहर कर्म की पूरी सुंदरता होती है, किंतु भीतर किसी फल की चिंता या सफलता-विफलता का तनाव नहीं होता।

2. अनायास विलीन होना

- जीवन जब तक चल रहा है, तब तक यह एक सहज खेल और मनोरंजन है।
- जब शरीर के छूटने का क्षण आता है, तो न कोई छटपटाहट होती है, न कोई अधूरी इच्छा, और न ही किसी मोक्ष या स्वर्ग की माँग।
- जैसे पानी की बूँद सागर में उठती है, खेलती है और सहजता से सागर में ही समा जाती है—वैसे ही साक्षी भाव में स्थित चेतना बिना किसी शोर-शराब के, अगाध मौन में विलीन हो जाती है।

"बाहर संसार की भूमिकाओं को कुशलता से निभाना और भीतर अचल दृष्टा बने रहना ही ज्ञानी का सहज आचरण है। बिना किसी तनाव के जीवन को हँसते-खेलते जीना और अंत में अगाध अस्तित्व में शांत विलीन हो जाना ही भक्ति और ज्ञान की अंतिम पराकाष्ठ है।

अध्याय 41

'साक्षी होने की स्मृति' का सूक्ष्म भ्रम

संसार में बहुधा यह देखा जाता है कि जब व्यक्ति साक्षी भाव की बात करता है, तो मन भीतर ही भीतर एक सूक्ष्म खेल खेलता है—वह बार-बार स्वयं को याद दिलाता रहता है कि "मैं साक्षी हूँ", "मैं दृष्टा हूँ", "मैं शरीर या मन नहीं हूँ।"

"जब आप कहते हैं कि 'मैं साक्षी हूँ' या 'अंदर का दृष्टा केवल देखता है'—तब क्या 'मैं साक्षी हूँ' की यह याद या वृत्ति (Reminder) भी मन की ही एक सूक्ष्म लहर नहीं है?

क्या साक्षी होने के लिए 'मैं साक्षी हूँ' ऐसा सोचना या याद रखना भी ज़रूरी है, या फिर यह 'साक्षी' शब्द और 'साक्षी होने का भाव' भी गिर जाने के बाद जो बचता है, वही परम यथार्थ है।

शब्द-रहित चेतना और निःशब्द साक्षी

1. 'साक्षी होने का विचार' भी मन का ही छलावा है

अध्यात्म की राह में मन का अंतिम दांव यही होता है कि वह विचारों की जगह 'ज्ञान के शब्दों' को पकड़ लेता है:

- "मैं दृष्टा हूँ", "मैं शरीर नहीं हूँ"—यह बार-बार स्वयं को याद दिलाना भी मन की ही एक सूक्ष्म तरंग है।
- यह याददाश्त साक्षी होना नहीं, बल्कि साक्षी होने की 'मानसिक एक्टिंग' मात्र है।
- जब तक विचार मौजूद हैं, तब तक व्यक्ति केवल मन की ही सीमा में घूम रहा है।

2. निःशब्द अगाध यथार्थ

- साक्षी में कोई शब्द, कोई भाषा और कोई विचार होता ही नहीं।
- वह शब्दों के शुरू होने से पहले की स्थिति है और शब्दों के समाप्त होने के बाद भी बनी रहने वाली अचल उपस्थिति है।
- जब 'मैं साक्षी हूँ' का शब्द और भाव भी विलीन हो जाता है—तब जो शब्द-रहित, मौन और निशब्द यथार्थ शेष बचता है, वही वास्तविक स्वरूप है।

""में साक्षी हूँ" ऐसा सोचना भी मन का विचार है। यथार्थ में साक्षी में शब्द होते ही नहीं। वह शब्दों और विचारों से पूरी तरह परे, एक निःशब्द और अचल है।

अध्याय 42

"संसार में विद्वान, पंडित और दार्शनिक जीवन भर वेदों, उपनिषदों, गीता, कबीर और बुद्ध के शास्त्रों व दर्शन (Philosophy) की व्याख्या करने और बहस करने में लगे रहते हैं।

जब साक्षी पूरी तरह शब्द-रहित और निःशब्द है, तब इन तमाम बड़े-बड़े शास्त्रों, ग्रंथों, सिद्धान्तों और बौद्धिक बहसों का इस यथार्थ के सामने क्या मूल्य बचता है?

क्या ये सारे शास्त्र और दार्शनिक शब्द केवल उस निःशब्द यथार्थ की ओर संकेत करने वाले बाहरी काँटे मात्र हैं, जिन्हें सत्य का साक्षात् होते ही फेंक दिया जाता है?"

शास्त्र और संसार का खेल

1. बौद्धिक जाल और शब्दों का खेल

संसार में बहुधा लोग शास्त्रों, ग्रंथों और दार्शनिक सिद्धांतों को ही अंतिम सत्य मान बैठने की भूल कर बैठते हैं:

- बड़े-बड़े विद्वान और पंडित शब्दों की व्याख्या करने, श्लोकों को रटने और तर्कों की कुश्ती में अपना पूरा जीवन गंवा देते हैं।
- परंतु शब्द केवल इशारा कर सकते हैं; वे स्वयं यथार्थ नहीं हैं। जैसे 'नक्शा' स्वयं 'ज़मीन' नहीं होता, वैसे ही 'शास्त्र' स्वयं 'साक्षी' नहीं है।
- यह बौद्धिक और दार्शनिक प्रपंच भी मन का ही एक परिष्कृत (Refined) खेल है।

2. निष्कंप साक्षी और संसार का सहज प्रवाह

- शास्त्रों की बहसों, सिद्धांत और पठन-पाठन—यह सब संसार की व्यवस्था का एक हिस्सा हैं, और संसार का यह खेल ऐसे ही चलता रहेगा। इसे रोकने या इसका विरोध करने की भी कोई आवश्यकता नहीं है।
- जो साक्षी भाव में टिक गया, उसके लिए सारे शास्त्र और ग्रंथ पीछे छूट जाते हैं। वह समझ लेता है कि सत्य किसी तर्क या किताब का मोहताज नहीं है।
- वह संसार के इस बौद्धिक खेल को भी एक तटस्थ दर्शक की भाँति देखता है, बिना इसमें उलझे या प्रभावित हुए।

"वेद, शास्त्र, ग्रंथ और बौद्धिक बहसों संसार के खेल का हिस्सा हैं, और यह खेल चलता रहेगा। परंतु निःशब्द साक्षी इन तमाम शब्दों, तर्कों और सिद्धांतों से पूरी तरह परे, अछूता और अचल यथार्थ है।"

अध्याय 43

"अध्यात्म में जब साधक अज्ञान, संसार और दुखों से मुक्त होने लगता है, तो उसके भीतर एक बहुत बारीक, सूक्ष्म अहंकार जन्म ले लेता है—'मुझे सत्य समझ में आ गया है', 'मैं जानी हूँ', 'मैं अन्य अज्ञानियों से अलग हूँ'।"

जब यह स्पष्ट हो गया कि साक्षी निःशब्द है और शास्त्र केवल संसार का खेल हैं, तब क्या इस 'जानी होने' या 'सत्य को जान लेने' के भाव का भी कोई मूल्य बचता है?

क्या यह 'जानी होने की तृप्ति' भी अहंकार का ही अंतिम सूक्ष्म चोला नहीं है? क्या साक्षी में जानी या अज्ञानी होने का कोई ठप्पा या भेद शेष बचता है?"

परम समर्पण और कोरा शून्य

1. सर्व-विचारों का अंत ही सबसे बड़ी भक्ति है

संसार में मनुष्य पूजा, प्रार्थना और विचारों के आडंबर को ही भक्ति समझ लेता है:

- परंतु जहाँ विचार है, वहाँ अहंकार का कोई न कोई सूक्ष्म कोना बचा रहता है—चाहे वह जानी होने का अहंकार ही क्यों न हो।
- जब 'जानी' या 'अज्ञानी' होने के सारे दाव-पेच और दिमागी विचार समाप्त हो जाते हैं, तो अस्तित्व के प्रति 'परम समर्पण' (**Ultimate Surrender**) घटित होता है।
- जहाँ कोई विचार नहीं बचता, वही सबसे बड़ी और निष्काम भक्ति है।

2. अंदर शून्य, बाहर केवल दर्शन

- इस अवस्था में भीतर कोई वैचारिक बुनावट नहीं होती; सब कुछ पूरी तरह से 'कोरा' और स्वच्छ हो जाता है।
- अंदर एक अचल शून्य (**Shunya**) की स्थिति होती है, और बाहर संसार में जो जैसा घटित हो रहा है, साक्षी उसे बिना किसी हस्तक्षेप के केवल देखता रहता है।
- यहाँ 'जानी' का कोई ठप्पा या अहंकार का कोई चोला नहीं बचता; साक्षी का अर्थ केवल और केवल 'साक्षी' रह जाता है—अत्यंत सादा, निर्लेप और अचल।

"साक्षी में जानी या अज्ञानी का कोई भेद नहीं होता। विचारों से मुक्त पूर्ण कोरापन और अस्तित्व के प्रति संपूर्ण समर्पण ही सबसे बड़ी भक्ति है। अंदर असीम शून्य और बाहर केवल निष्कंप देखना—साक्षी का अर्थ बस यही साक्षी होना है।"

अध्याय 44

"अध्यात्म में लोग जीवन भर साक्षी बनने के लिए ध्यान (**Meditation**), प्राणायाम, जप और भांति-भांति के 'अभ्यास' या प्रयास (**Efforts**) करते रहते हैं।

जब साक्षी केवल एक कोरापन, अंदर शून्य और स्वतः सिद्ध स्थिति है, तब साक्षी में टिकने के लिए किसी भी प्रकार के 'अभ्यास' या 'प्रयास' की क्या आवश्यकता बचती है?

क्या साक्षी होने के लिए कोई 'मेहनत' या 'प्रयास' करना भी मन की ही छटपटाहट है? क्या यह स्वीकार कर लेना ही अंतिम सत्य है कि साक्षी को 'पाना' नहीं है, वह तो सदा से बना ही हुआ है?"

अशांत मन और शांति की खोज

1. अशांत मन की स्वाभाविक तड़प

संसार में जब तक मन अशांत और पीड़ित है, वह चुप नहीं बैठ सकता:

- अशांत मन का शांति, ध्यान, जप या साधना की ओर जाना पूरी तरह से स्वाभाविक और अनिवार्य प्रक्रिया है।
- जब तक शरीर में प्यास है, जल की खोज होगी ही; ठीक वैसे ही जब तक मन में अशांति है, वह शांति के उपाय और अभ्यास करेगा ही।
- इसे ज़बरदस्ती नकारना या "मुझे किसी अभ्यास की ज़रूरत नहीं" ऐसा ज्ञान झाड़ना मन का एक और छलावा बन जाता है।

2. अभ्यास का वास्तविक कार्य

- साधना, ध्यान या विचार का कोई भी प्रयास 'साक्षी' को पैदा नहीं करता—साक्षी तो सदा से मौजूद है।
- अभ्यास का असली काम केवल मन के विकारों, तरंगों और अशांति की धूल को साफ़ करना है।
- जैसे गंदे पानी को शांत छोड़ देने पर मिट्टी नीचे बैठ जाती है और साफ़ पानी चमकने लगता है—वैसे ही साधना के प्रयासों से जब अशांत मन शांत हो जाता है, तो भीतर का कोरा शून्य और निष्कंप साक्षी अपने आप उजागर हो जाता है।

"अशांत मन शांति की खोज करेगा ही, और इसके लिए अभ्यास या साधन करना स्वाभाविक है। प्रयास साक्षी को निर्मित नहीं करता, बल्कि मन की अशांति को शांत करता है—ताकि सदा से मौजूद निःशब्द साक्षी स्वतः प्राप्त हो सके।

अध्याय 45

"अध्याय 41 से 44 तक हमने देखा कि साक्षी में कोई शब्द या विचार नहीं होते (अध्याय 41), वेद और शास्त्र संसार के खेल का हिस्सा हैं (अध्याय 42), विचारों से मुक्त अंदर का शून्य और परम समर्पण ही सबसे बड़ी भक्ति है (अध्याय 43), और अशांत मन शांति की खोज में अभ्यास करेगा ही ताकि साक्षी स्वतः प्रकट हो सके (अध्याय 44)।

क्या यह कहना ही अंतिम निचोड़ है कि अशांत मन भले ही शांति ढूँढ़ता रहे और संसार का खेल चलता रहे—परंतु जिस क्षण भीतर का कोरा शून्य साक्षात् हो जाता है, उस क्षण से मनुष्य जीवन को किसी भारी साधना के रूप में नहीं, बल्कि एक परम-शांत, सहज और मुदित (हँसते-खेलते) उत्सव की तरह जीता है?"

सहज उत्सव और मुदित जीवन

1. किसी भी ढंग से जीने की परम स्वतंत्रता

संसार और अध्यात्म बहुधा मनुष्य पर जीने के खास नियम और बंदिशें थोपते हैं:

- परंतु यथार्थ बोध होते ही बाहरी रूढ़ियों, नियमों और जीने के खास "ढंगों" की गुलामी गिर जाती है।
- जानी किसी एक निश्चित सांचे या आचरण में बँधकर नहीं जीता; वह पूरी स्वतंत्रता और सहजता के साथ जीवन के प्रवाह में बहता है।
- जीवन को किस ढंग से जिया जा रहा है—यह बाहरी बात है; मुख्य बात यह है कि भीतर तनाव और अहंकार है या नहीं।

2. हँसते-खेलते जीना ही अंतिम भक्ति है

- जब भीतर अशांत मन शांत हो जाता है और कोरा शून्य उजागर हो जाता है, तो जीवन एक भार नहीं बल्कि मनोरंजन बन जाता है।
- परिस्थिति चाहे सुख की हो या दुख की, अनुकूल हो या प्रतिकूल—साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति जीवन के हर दृश्य को हँसते-खेलते और सहजता से स्वीकार करता है।
- बिना किसी भारीपन, बिना किसी शिकायत और बिना किसी अनावश्यक संजीदगी के हँसते-मुस्कुराते जीना ही जीवन की सबसे सुंदर कला और भक्ति है।

"जीवन को किसी खास ढंग में ढालने की कोई मजबूरी नहीं है। भीतर से निष्कंप साक्षी बने रहकर बाहर जीवन को हँसते-खेलते, मुदित होकर और सहजता से जीना ही ज्ञान और साधना का परम-सार है।"

अध्याय 46

"जब शरीर को गहरी शारीरिक पीड़ा, बीमारी, भूख, या जीवन में अचानक कोई बहुत बड़ा संकट (Tragedy/Loss) घेर लेता है—तब क्या मन और देह के उस तीव्र खिंचाव में साक्षी भाव में बने रहना केवल एक दार्शनिक सिद्धांत बनकर रह जाता है, या उस गहन पीड़ा के बीच भी भीतर का कोरा शून्य उतना ही अछूता और निष्कंप बना रहता है?"

क्या व्यावहारिक जीवन की पीड़ा और भीतर के साक्षी भाव के बीच कोई वास्तविक तनाव है, या यह तनाव भी केवल मन के सोचने भर से पैदा होता है?"

आकाश-तुल्य साक्षी और निर्लेप शून्य

1. देह के धर्म और संसार का सहज प्रवाह

संसार में जब तक शरीर और जीवन है, तब तक परिस्थितियाँ एक जैसी नहीं रहेंगी:

- बीमारी, भूख, शारीरिक पीड़ा, सफलता, विफलता या जीवन के बड़े संकट—यह सब संसार और देह के स्वभाव का हिस्सा हैं।
- इन्हें रोकने या इनसे भागने का प्रयास व्यर्थ है, क्योंकि संसार का खेल इसी उथल-पुथल के बीच चलता है।
- जानी शरीर की पीड़ा या संसार के संकट को नकारता नहीं; वह स्वीकार करता है कि यह देह और प्रकृति का अपना नियम है।

2. शून्य और आकाश जैसी निर्लेप स्थिति

- जैसे आकाश के भीतर आँधी, तूफान, वर्षा और धूप जैसी तमाम घटनाएँ घटती हैं, किंतु आकाश पर किसी घटना का रती भर भी प्रभाव या दाग नहीं छूटता—वैसे ही साक्षी चेतना शून्य के तुल्य है।
- सुख आए या घोर दुख, स्वास्थ्य रहे या देह बीमारी से गुजरे—साक्षी के भीतर कोई खिंचाव या तनाव पैदा नहीं होता।
- साक्षी चेतना उस विशाल शून्य के समान है जिसके भीतर पूरा ब्रह्मांड संचालित हो रहा है, पर वह स्वयं अचल, अछूती और केवल दृष्टा बनी रहती है।

"पीड़ा, बीमारी, भूख और संकट संसार तथा देह के तल पर चलेंगे। किंतु साक्षी चेतना आकाश और शून्य के तुल्य है—जिसके भीतर सब कुछ घटित होता है, पर जो स्वयं किसी भी सुख-दुख से सदा अछूती और निष्कंप दृष्टा बनी रहती है।"

अध्याय 47

"मनुष्य जीवन भर अतीत की खट्टी-मीठी स्मृतियों, पुरानी भूलों, चोटों, संबंधों की यादों और अनगिनत संस्कारों के बोझ से दबा रहता है। जब भी व्यक्ति शांत बैठने की कोशिश करता है, मन की पुरानी स्मृतियाँ अचानक उबलकर सामने आ जाती हैं।

जब साक्षी आकाश के तुल्य शून्य है और केवल देख रहा है, तब इन पुरानी स्मृतियों (**Memories**) और संस्कारों का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या अतीत की स्मृतियाँ भी केवल मन के पर्दे पर तैरती हुई पुरानी फिल्में मात्र हैं, जिन्हें देखने वाला साक्षी पूरी तरह अछूता और स्वतंत्र रहता है—चाहे स्मृति कितनी भी पुरानी या गहरी क्यों न हो?"

स्मृति का चित्र और निष्कंप द्रष्टा

1. स्मृतियाँ और संस्कार मन का स्वभाव हैं

मनुष्य अक्सर मन में उठने वाली पुरानी यादों, पश्चाताप या संस्कारों से परेशान होकर उनसे लड़ने लगता है:

- परंतु पुरानी स्मृतियों और संस्कारों का उभरना मन के टेप-रिकॉर्डर का स्वाभाविक गुण है।
- जब तक मस्तिष्क में पुराने प्रभाव (**Impressions**) मौजूद हैं, वे मन के धरातल पर विचारों और यादों के रूप में तैरते रहेंगे।
- इनसे भागना या इन्हें दबाना व्यर्थ है, क्योंकि ये केवल अतीत के रिकॉर्ड किए हुए चित्र मात्र हैं।

2. मन के पर्दे पर जलचित्र

- अतीत की यादें चाहे कितनी भी गहरी, कड़वी या सुखद क्यों न हों—साक्षी के सामने वे केवल मन के पर्दे पर चलती हुई तस्वीरों जैसी हैं।
- जैसे सिनेमा के पर्दे पर भयंकर आग का दृश्य आए तो पर्दा जलता नहीं, और जलप्रपात आए तो पर्दा भीगता नहीं—वैसे ही स्मृतियों का साक्षी पर रती भर भी असर नहीं पड़ता।
- साक्षी पुरानी से पुरानी स्मृतियों और संस्कारों को भी बिना किसी जुड़ाव (**Attachment**) और बिना किसी विरोध के केवल देखता रहता है।

"पुरानी स्मृतियाँ और संस्कार केवल मन के पर्दे पर तैरते हुए चित्र हैं। साक्षी इन चित्रों से पूरी तरह स्वतंत्र, निर्लेप और अछूता रहकर इन्हें केवल देखता है—उस पर अतीत के किसी भी प्रभाव का कोई दाग नहीं लगता।"

अध्याय 48

"संसार में मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा और अंतिम भय 'मृत्यु' (**Death**) का है। व्यक्ति जीवन भर इस बात से डरता है कि एक दिन यह शरीर, यह नाम, यह पहचान और यह सारा संचित संसार समाप्त हो जाएगा।

जब साक्षी शून्य और आकाश के तुल्य अछूता है जो देह और मन के सारे खेल को केवल देखता है—तब इस 'मृत्यु' का साक्षी के लिए क्या अर्थ बचता है?

क्या मृत्यु केवल शरीर के पंचतत्वों में गल जाने और मन के शांत हो जाने की एक प्राकृतिक घटना मात्र है, जबकि जो 'देखने वाला' था, उसकी न कभी मृत्यु हुई थी और न कभी हो सकती है?"

मृत्यु का दर्शन और असीम विलय

1. धर्मशास्त्रों की व्यर्थ की कल्पनाएँ

मृत्यु के नाम पर संसार और मन ने अनगिनत भ्रम और भय खड़े किए हैं:

- मृत्यु के बाद क्या होगा, पुनर्जन्म होगा या स्वर्ग-नरक मिलेगा—यह सब मन की गढ़ी हुई व्यर्थ की धारणाएँ और बकवास हैं।
- जो साक्षी भाव में स्थित है, वह ऐसी काल्पनिक बातों की न तो तुलना करता है, न ही इनमें उलझता है।
- देखने वाली चेतना का कभी जन्म हुआ ही नहीं था, इसलिए उसकी कभी मृत्यु संभव ही नहीं है।

2. मृत्यु का साक्षी और सहज विलय

- मृत्यु केवल शरीर के दहने, श्वास के रुकने और मन के शांत होने की एक प्राकृतिक भौतिक घटना है।
- जब अंत समय आता है, तो साक्षी इस पूरे घटनाक्रम और मृत्यु को भी निष्कंप होकर केवल देखता है।
- जैसे दीपक की लौ बुझकर अनंत हवा में समा जाती है, वैसे ही देखने वाला साक्षी मृत्यु को देखते-देखते अस्तित्व के असीम शून्य में सहज लीन हो जाता है। उसके बाद का कोई हिसाब या तुलना मन का विषय है, साक्षी का नहीं।

"दृष्टा अमर है; उसकी कभी मृत्यु नहीं होती। मृत्यु के बाद क्या होगा, यह मन की व्यर्थ की कल्पनाएँ हैं। साक्षी मृत्यु को भी तटस्थ होकर देखता है और अंत में अस्तित्व के शून्य में शांत लीन हो जाता है।"

अध्याय 49

"संसार में लोग ऊपर आकाश में किसी 'भगवान' या 'ईश्वर' को बैठा मान लेते हैं जो इस दुनिया को चला रहा है, अवतार लेता है, या लोगों की प्रार्थनाएँ सुनकर न्याय करता है।

जब साक्षी शून्य के तुल्य है और सब कुछ इस स्वतः बहती धारा (अस्तित्व) में अपने आप घटित हो रहा है, तब किसी 'बाहरी भगवान' या 'ईश्वर' की अवधारणा का क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह 'ईश्वर का स्वरूप' भी मनुष्य के अपने भय और सुरक्षा की भावना से गढ़ा गया एक मानसिक सहारा है, जबकि परम यथार्थ केवल यह 'स्वयं की चेतना' और 'अचल साक्षी' ही है?"

काल्पनिक सहारा और परम स्व-चेतना

1. भय और सुरक्षा से निर्मित 'ईश्वर'

संसार में ईश्वर की अधिकतर धारणाएँ श्रद्धा से नहीं, बल्कि मनुष्य के भीतर छिपे भय और असुरक्षा से जन्म लेती हैं:

- जब मन संसार के संकटों, बीमारियों और अनिश्चितता से घबराता है, तो वह शांति और मानसिक सहारे के लिए एक बाहरी ईश्वर की कल्पना कर लेता है।
- मनुष्य अपने ही जैसा एक बड़ा रूप गढ़कर उसे 'कर्ता', 'न्यायाधीश' या 'रक्षक' मान बैठता है ताकि उसे संकट में दिलासा मिल सके।
- यह काल्पनिक सहारा मन के भय को शांत करने का एक साधन मात्र है, किंतु यह परम यथार्थ नहीं है।

2. स्व-चेतना और अचल साक्षी ही परम यथार्थ है

- सत्य को पाने के लिए किसी आकाश या बैकुंठ में झाँकने की आवश्यकता नहीं है; परम यथार्थ स्वयं की चेतना (**Self-Consciousness**) है।
- जो भीतर से सब कुछ देख रहा है—वह अचल साक्षी ही अंतिम और एकमात्र यथार्थ है।
- इस अचल साक्षी के सामने किसी बाहरी कर्ता, किसी ईश्वर या किसी अलौकिक शक्ति का कोई पृथक अस्तित्व नहीं बचता।

"मनुष्य ने अपनी घबराहट में सांत्वना और सुरक्षा के लिए ईश्वर आदि की कल्पनाएँ की हैं। परम यथार्थ केवल स्वयं की चेतना और अचल साक्षी है—जो किसी भी काल्पनिक सहारे से पूरी तरह स्वतंत्र और स्वयं है।

अध्याय 50

"अध्याय 46 से 49 तक हमने देखा कि साक्षी आकाश-तुल्य निर्लेप शून्य है (अध्याय 46), स्मृतियाँ मन के पर्दे पर चित्र मात्र हैं और साक्षी अछूता है (अध्याय 47), साक्षी अमर है और मृत्यु को भी तटस्थ होकर देखता है (अध्याय 48), और ईश्वर की धारणाएँ मन का सहारा हैं जबकि स्वयं की चेतना व साक्षी ही परम यथार्थ 'असली भक्त' वह नहीं है जो किसी मूर्ति, नाम या ईश्वर के आगे झुकता है, बल्कि असली भक्त वह है जो अपने ही भीतर के इस अचल, निःशब्द और परम साक्षी में सहज भाव से लीन होकर, संसार के खेल को हँसते-खेलते देखता हुआ शांत विलीन हो जाता है?

काल्पनिक ईश्वर का अंत और असली भक्त

1. सुरक्षा की कल्पना का अंत

संसार में मनुष्य का अज्ञानी मन जिस ईश्वर को ढाल बनाकर जीता था:

- वह ईश्वर केवल मन की घबराहट और सांत्वना का एक साधन था।
- जब साक्षी चेतना का प्रकाश जागता है, तो मन के गढ़े हुए सारे ईश्वर और सहारे धूप में बर्फ की तरह पिघल जाते हैं।
- अब किसी बाहरी भगवान से कुछ माँगने, डरने या उसके आगे गिड़गिड़ाने की कोई आवश्यकता नहीं बचती।

2. 'असली भक्त' की अंतिम और पूर्ण परिभाषा

- असली भक्त वह नहीं है जो किसी बाहरी मूर्ति, नाम, ग्रंथ या काल्पनिक ईश्वर के सामने झुकता है या पूजा-पाठ के आडंबर करता है।
- असली भक्त वह है जो अपने ही भीतर के इस निःशब्द, अचल और अमर साक्षी में सहज भाव से टिक जाता है।
- वह संसार के हर दृश्य, सुख-दुख और यहाँ तक कि मृत्यु को भी हँसते-खेलते देखता है और अंत में असीम शून्य में शांत विलीन हो जाता है।

"मनुष्य की घबराहट से जन्मा काल्पनिक ईश्वर अब पूरी तरह समाप्त हो चुका है। स्वयं की चेतना ही परम यथार्थ है। अपने भीतर के अचल साक्षी में सहज टिककर जीवन को मुदित जीना और अंत में शांत लीन हो जाना ही 'असली भक्त' का अंतिम सत्प्रश्न

अध्याय 51

'सत्य की अभिव्यक्ति और भाषा की लाचारी'

अध्यात्म और दर्शन में लोग अक्सर सत्य की व्याख्या करने, किताबें लिखने, प्रवचन देने या दूसरों को समझाने की कोशिश करते हैं।

"जब साक्षी पूरी तरह निःशब्द, अचल और कोरा शून्य है, तब उस निःशब्द यथार्थ को 'शब्दों' में व्यक्त करने का प्रयास कितना सार्थक है?"

क्या यह बोलना, लिखना, समझाना या किसी को सत्य बताने की कोशिश करना भी केवल मन की एक अभिव्यक्ति मात्र है?

क्या शब्दों में कहा गया कोई भी 'सत्य' वास्तव में सत्य रह जाता है, या शब्द बनते ही वह केवल एक दार्शनिक विचार और सिद्धांत बनकर रह जाता है?"

शब्दों की करुणा और पार का साक्षी

1. दुख का निवारण और शब्दों का प्रवाह

संसार में दुख एक प्रत्यक्ष और व्यावहारिक यथार्थ है:

- हर मनुष्य अपने-अपने तल पर दुख, भटकाव और अशांति से मुक्ति खोजना चाहता है।
- दुख से तड़पते हुए मन को सांत्वना, समझ और दिशा देने के लिए ही शब्दों, संवादों, प्रवचनों और ग्रंथों की रचना होती है।
- यह शब्दों का संसार व्यर्थ नहीं है; यह दुखी और अशांत मन की आवश्यकता को पूरा करने वाली एक करुणापूर्ण व्यवस्था है, और यह ऐसे ही चलती रहेगी।

2. शब्द संकेत हैं, यथार्थ नहीं

- शब्द दुख को मिटाने की औषधि का काम कर सकते हैं, किंतु शब्द स्वयं 'साक्षी' नहीं हैं।
- जैसे 'अन्न' शब्द कह देने से पेट की भूख नहीं मिटती, वैसे ही 'सत्य' या 'साक्षी' शब्द बोल देने या लिख देने से परम स्थिति सिद्ध नहीं होती।
- शब्दों का कार्य मन के उलझनों को सुलझाना है; किंतु साक्षी चेतना इन तमाम शब्दों, भाषाओं और अभिव्यक्तियों से पूरी तरह परे, निःशब्द पार की स्थिति है।

"संसार का दुख मिटाने के लिए शब्दों का यह व्यवहार और संवाद चलता रहेगा। परंतु निःशब्द साक्षी इन तमाम शब्दों, संवादों और सिद्धांतों से परे, एक अचल और पार का यथार्थ है।

अध्याय 52

"अध्यात्म की इस यात्रा में जब साधक शास्त्रों, तर्कों, ईश्वर की धारणाओं और विचारों को नकार देता है, तो उसके भीतर एक बहुत बारीक, छिपा हुआ भाव आ बैठता है—'अब मुझे कुछ भी पाना शेष नहीं है', 'मैंने अंतिम सत्य को जान लिया है'।

क्या यह 'मैंने सब समझ लिया है' या 'मुझे अंतिम बोध हो गया है' की तृप्ति भी मन का ही एक सूक्ष्म खेल नहीं है?

जब साक्षी पूर्णतः कोरा शून्य है जहाँ कोई 'जानने वाला' (Knower) और 'जाना जाने वाला' (Known) बचा ही नहीं, तब इस 'बोध हो जाने' के दावों और तृप्ति का क्या यथार्थ बचता है?"

जाता-ज्ञेय से परे केवल देखना

1. दावों और तृप्ति का अंत

संसार में मन का अंतिम छलावा यही होता है कि वह 'ज्ञानी' होने का दावा रचने लगता है:

- "मैंने सत्य को जान लिया है" या "मुझे बोध हो गया है"—यह कहना भी मन की ही तृप्ति और सूक्ष्म अहंकार है।
- जहाँ साक्षी साक्षात् होता है, वहाँ ज्ञानी होने का दावा करने वाला 'मैं' ही समाप्त हो जाता है।
- वहाँ कोई अहंकार या कोई झंडा फहराने वाला नहीं बचता; सारे दावे और सारे सिद्धांत अपने आप खो जाते हैं।

2. न जानने वाला, न जाना जाने वाला

- साक्षी वह स्थिति है जहाँ 'जानने वाला' (जाता) और 'जाना जाने वाला' (ज्ञेय) दोनों का भेद मिट जाता है।
- साक्षी में कोई विशेष ज्ञानात्मक बोझ नहीं है; वह तो अत्यंत सादा, कोरा और अचल शून्य है।
- वहाँ कोई विशेष बात, कोई विचार या कोई भाव नहीं बचता। साक्षी का अर्थ बस साक्षी है—एक निरपेक्ष, सहज और निर्लेप देखना।

"साक्षी में 'मैंने जान लिया' जैसा कोई दावा नहीं होता। जहाँ जानने वाला और जाना जाने वाला दोनों मिट जाते हैं, वहाँ केवल एक अचल शून्य और देखना मात्र शेष रहता है। सुख-दुख और हर घटना के पार बस यही निष्कंप देखना साक्षी है।"

अध्याय 53

"संसार में मनुष्य जीवन भर इस चिंता में घुलता रहता है कि 'मैंने यह काम किया', 'मुझे इसका अच्छा या बुरा फल मिलेगा', 'मेरी जिम्मेदारियाँ पूरी नहीं हुईं।' लोग अपने कर्मों और उनके परिणामों के बोझ से हमेशा दबे रहते हैं।

जब साक्षी केवल देखने वाला एक अचल शून्य है और कर्म तो शरीर, इंद्रियों और प्रकृति के नियमों से हो रहे हैं—तब इस 'कर्तापन' (Doership) का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह मान लेना ही अंतिम सत्य है कि 'काम हो रहे हैं, पर करने वाला कोई नहीं है'? क्या कर्तापन का यह भाव गिरते ही सारे कर्मों का बोझ और पाप-पुण्य का भय स्वतः समाप्त हो जाता है?"

प्रकृति के कर्म और शून्य-साक्षी

1. कर्तापन का झूठा अहंकार

संसार में मनुष्य भ्रमवश प्रकृति के चक्र को अपना कार्य मान बैठता है:

- "मैंने यह काम किया" या "मेरी वजह से यह हुआ"—यह कर्तापन का भाव ही मनुष्य के समस्त दुखों, पाप-पुण्य के भय और मानसिक
- तनाव की जड़ है।
- शरीर, इंद्रियाँ, मस्तिष्क और परिस्थितियाँ प्रकृति के बनाए नियमों के अनुसार अपनी-अपनी गति से काम कर रही हैं।
- मनुष्य केवल प्रकृति की कठपुतली बनकर उस क्रिया को 'अपना' कहने का व्यर्थ अहंकार पाले रहता है।

2. निष्कंप शून्य और अकर्ता भाव

- देखने वाला साक्षी चेतना का वह परम शून्य है जो न तो किसी काम को करने दौड़ता है और न ही किसी काम से पीछे हटता है।
- जब यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म केवल शरीर और प्रकृति के धरातल पर हो रहे हैं, तो 'कर्तापन' (Doership) का झूठा आवरण गिर जाता है।
- कर्तापन गिरते ही कर्मों का सारा भारीपन, सफलता-विफलता का तनाव और पाप-पुण्य का भय स्वतः समाप्त हो जाता है।

"सारे कर्म केवल शरीर, इंद्रियों और प्रकृति के नियमों द्वारा संचालित हो रहे हैं। देखने वाला साक्षी पूरी तरह अचल शून्य और अकर्ता है। कर्तापन के मिटते ही कर्मों का सारा बोझ सदा के लिए समाप्त हो जाता है।"

अध्याय 54

"संसार में मनुष्य अकेलेपन (Loneliness) से बहुत डरता है। वह खाली बैठते ही ऊबने लगता है और अपने अकेलेपन को भरने के लिए लोगों, मोबाइल, टीवी, बातचीत या किसी न किसी काम का सहारा ढूँढ़ता है।

जब साक्षी पूरा शून्य है और भीतर कोई दूसरा है ही नहीं, तब साक्षी भाव में स्थित व्यक्ति के लिए इस 'अकेलेपन' का क्या अर्थ रह जाता है?

क्या यह कहना ही सत्य है कि संसार का 'अकेलापन' मन का भय है, जबकि साक्षी का 'कैवल्य' या 'एकमात्र होना' कोई बीमारी या उदासी नहीं, बल्कि परम-शांति और अपना ही आनंद है?"

भीड़, एकांत और अचल साक्षी

1. मन का अकेलेपन से भय

संसार में मनुष्य का मन परिस्थितियों के अधीन होकर डोलता रहता है:

- जब मन अकेला होता है, तो वह खालीपन और ऊब से डरकर भीड़, मनोरंजन या बातचीत का सहारा ढूँढता है।
- जब मन भीड़ में होता है, तो वह तनाव और शोर से थककर शांति और एकांत की भीख माँगता है।
- यह अकेलापन या भीड़ का खिंचाव केवल मन का विकार और उसकी घबराहट है, जो सदा बाहर सहारा खोजती है।

2. निर्लेप और अछूता दृष्टा

- साक्षी भाव में स्थित होने पर स्थान और परिस्थिति का भेद पूरी तरह समाप्त हो जाता है।
- आप किसी मेले के शोर-शराबे में खड़े हों या किसी निर्जन स्थान के सन्नाटे में—साक्षी चेतना पर इसका रती भर भी असर या प्रभाव नहीं पड़ता।
- साक्षी न तो भीड़ में खोता है और न ही अकेलेपन में उदास होता है; वह दोनों अवस्थाओं को एक समान तटस्थ होकर केवल देखता रहता है।

"भीड़ हो या एकांत, साक्षी चेतना पर परिस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। साक्षी दोनों स्थितियों से पूरी तरह स्वतंत्र, निर्लेप और अछूता रहकर केवल देखता रहता है।

अध्याय 55

"अध्याय 51 से 54 तक हमने देखा कि दुख निवारण के लिए शब्दों का संसार चलेगा पर साक्षी शब्दों के पार है (अध्याय 51), साक्षी में 'ज्ञाता' या 'ज्ञानी' होने का कोई दावा नहीं होता (अध्याय 52), कर्म प्रकृति से हो रहे हैं और साक्षी अकर्ता शून्य है (अध्याय 53), और भीड़ हो या अकेलापन, साक्षी अछूता रहकर केवल देखता रहता है (अध्याय 54)।

अंतिम निचोड़ है कि ज्ञानी को न तो संसार छोड़ने की आवश्यकता है और न संसार में उलझने की; वह तो सब कुछ देखते हुए, प्रकृति के खेल को समझते हुए, अत्यंत सहज, निर्भर और हँसते-खेलते हुए इस जीवन को पूरा करता है?"

अनंत आकाश और सर्व-समावेशी साक्षी

1. भगाने और त्याग का ढोंग

संसार से भागकर जंगलों या हिमालय में शरण लेना केवल एक छलावा है:

- जो संसार छोड़कर भागता है, वह आश्रम या गुफा में जाकर दूसरे ढंग से अपना नया संसार बसा लेता है—वहाँ भी भोजन, झोपड़ी और व्यवस्था का तनाव खड़ा हो जाता है।
- संसार में जन्म हुआ है तो संसार में रहना ही पड़ेगा; भागने की कोई जगह इस अस्तित्व में नहीं है।
- जब तक मनुष्य संसार के थपेड़ों और भटकन से पूरी तरह नहीं गुज़रता, तब तक 'साक्षी' केवल एक किताबी शब्द बना रहता है; उसका वास्तविक बोध नहीं होता।

2. असीम आकाश और सर्व-व्यापक अलिप्तता

- साक्षी उस असीम, खाली आकाश और शून्य के समान है जिसके भीतर पूरा ब्रह्मांड, तारे, ग्रह और जीव-जगत नाच रहे हैं।
- न तो जन्म हमारी इच्छा से है और न मृत्यु हमारी मर्जी से—सब कुछ प्रकृति के चक्र में घटित हो रहा है।
- साक्षी इस पूरे ब्रह्मांडीय नृत्य में सब जगह व्यापक (**Omnipresent**) भी है और रती भर भी न बँधने वाला पूरी तरह अलिप्त (**Untouched**) भी है।
- संसार के सारे विरोधाभास—सुख और दुख, जन्म और मृत्यु, शांति और शोर—इसी साक्षी-रूपी शून्य के भीतर समाए हुए हैं, पर यह स्वयं सदा निष्कंप दृष्टा बना रहता है।

"संसार से भागना व्यर्थ है; भटकन के बाद ही साक्षी का वास्तविक बोध जागता है। साक्षी वह व्यापक और अलिप्त आकाश है जिसके भीतर सारा ब्रह्मांड नाच रहा है और सारे विरोधाभास लीन हैं—परंतु जो स्वयं केवल और केवल अचल है और सर्वव्यापी है।

अध्याय 56

'इच्छाओं का बीज और साक्षी की निरपेक्षता'

संसार में ज्ञानी से ज्ञानी व्यक्ति के जीवन में भी शरीर के तल पर भोजन की इच्छा, विश्राम की इच्छा, स्वस्थ रहने की कामना या समाज में अपनी बात पहुँचाने का संकल्प उठता ही रहता है। साधारण मन इन इच्छाओं में बहकर दुखी होता है या इन्हें दबाने की कोशिश करता है।

"जब साक्षी पूरी तरह निष्कंप, अचल और शून्य है—तब इस शरीर और मन में उठने वाली किसी भी इच्छा, कामना या संकल्प का साक्षी से क्या संबंध रह जाता है?"

क्या इच्छा का उठना भी केवल प्रकृति के धरातल पर हवा चलने जैसी एक प्राकृतिक घटना है, जिसे साक्षी बिना किसी पसंद-नापसंद (**Like/Dislike**) के केवल देखता रहता है?

क्या इच्छा का होना या न होना, पूरी होना या अधूरी रह जाना—साक्षी के लिए बिल्कुल एक समान है?"

साक्षी की उपस्थिति और सहज शुद्धता

1. अचल आकाश और मौन उपस्थिति

साक्षी चेतना का स्वभाव आकाश के समान असीम और निष्कंप है:

- साक्षी स्वयं न तो कोई शब्द बोलता है, न ही किसी क्रिया में हस्तक्षेप (**Interfere**) करता है।
- जैसे आकाश में हवा, बादल, बिजली और पक्षियों की उड़ान घटित होती है, वैसे ही साक्षी रूपी शून्य के भीतर देह और मन का सारा खेल चलता रहता है।
- साक्षी कुछ न करते हुए भी सब कुछ अपने भीतर होने देता है, क्योंकि वह निरपेक्ष आधार है।

2. आचरण में यथार्थता और सहजता का अवतरण

- जब शरीर और मन की क्रियाओं को अचल साक्षी की दृष्टि मिलने लगती है, तो जीवन में एक क्रांतिकारी परिवर्तन आता है।
- साक्षी की उपस्थिति मात्र से ही मन के छल, चालाकी, अप्राकृतिक प्रयास (**Force**) और बनावट स्वतः गिर जाते हैं।
- व्यक्ति के खाने, पीने, बोलने और जीने के ढंग में एक परम यथार्थता (**Authenticity**), सहजता और असीम शुद्धता आ जाती है—बिना किसी कठिन प्रयास या नियम के लागू किए।

"साक्षी आकाश-तुल्य अचल और मौन है जिसके भीतर सब कुछ घटित होता है। साक्षी की केवल उपस्थिति मात्र से ही शरीर और मन का आचरण कृत्रिमता से मुक्त होकर परम यथार्थ, सहज और शुद्ध हो जाता है।"

अध्याय 57

"संसार में लोग साक्षी भाव को पाने के लिए ध्यान लगाते हैं, श्वासों को रोकते हैं, घंटों आँखें मूँदकर बैठते हैं और भाँति-भाँति के कठिन अभ्यास (**Practices**) करते हैं।

जब साक्षी पहले से ही अचल, स्वतः-सिद्ध और आकाश-तुल्य मौजूद है—तब साक्षी को पाने के लिए किए जाने वाले इन तमाम अभ्यासों और साधक के 'प्रयास' (**Effort**) का क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि प्रयास मन का काम है और साक्षी प्रयास-रहित (**Effortless**) सहज स्थिति है? क्या जब तक साधक 'प्रयास' कर रहा है, तब तक वह साक्षी से दूर केवल मन का ही खेल खेल रहा है?"

देह के प्रयास और तामसिक वृत्तियों का लय

1. जीवन चलाने के प्रयास और साक्षी की निरपेक्षता

संसार में जब तक यह शरीर मौजूद है, तब तक प्रयासों की अनिवार्यता बनी रहेगी:

- देह को स्वस्थ रखने, भोजन, विश्राम और कर्म करने के प्रयास हर मनुष्य को करने ही पड़ते हैं; इनसे भागा नहीं जा सकता।
- साक्षी इन तमाम शारीरिक और मानसिक प्रयासों को केवल देखता रहता है।
- हम सही मार्ग चुनते हैं या गलत मार्ग—साक्षी को इससे कोई सरोकार नहीं है। वह किसी भी निर्णय में हस्तक्षेप किए बिना केवल एक निरपेक्ष दृष्टा बना रहता है।

2. तामसिक वृत्तियों का स्वतः अंत

- भले ही साक्षी तटस्थ है, किंतु उसकी 'देखने की उपस्थिति' मात्र से मन का तमोगुण और विकार टिक नहीं पाते।
- अज्ञान के अंधेरे में ही आलस्य, प्रमाद, हिंसा, भोग और अशुद्ध तामसिक वृत्तियाँ पनपती हैं।
- जब साक्षी का प्रकाश जगता है, तो यह यथार्थ सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि तामसिक वृत्तियाँ केवल दुख की जननी हैं। चूँकि कोई भी जीव दुख नहीं चाहता, इसलिए वे तामसिक वृत्तियाँ बिना किसी दमन (**Suppression**) के अपने आप समाप्त हो जाती हैं।

"देह को चलाने के प्रयास अनिवार्य हैं और साक्षी इन प्रयासों में पूरी तरह तटस्थ दृष्टा है। परंतु साक्षी की उपस्थिति मात्र से यह बोध जगता है कि तामसिक वृत्तियाँ केवल दुख पैदा करती हैं, और इस बोध के साथ ही वे विकार स्वतः विलीन हो जाते हैं।"

अध्याय 58

"संसार में अनुकूल परिस्थिति आती है तो मन खुशी से उछलने लगता है, और प्रतिकूल परिस्थिति या अपमान आता है तो मन निराशा और अवसाद (**Depression**) में डूब जाता है। लोग जीवन भर सुख को पकड़े रखने और दुख से भागने के द्वंद्व में पिसते रहते हैं।

जब साक्षी इन दोनों को केवल देख रहा है, तब साक्षी में टिके व्यक्ति के लिए इस 'सुख और दुख' का क्या वास्तविक मूल्य बचता है?

क्या यह कहना ही सत्य है कि सुख और दुख केवल मन के मौसम हैं जो आते और जाते हैं, जबकि साक्षी के धरातल पर न कोई सुख है और न कोई दुख—वहाँ केवल एक अचल समता और शांति है?"

आत्मवान स्थिति और सहने की परम-क्षमता

1. सुख की सहज खोज और साक्षी का दृष्टा-भाव

संसार में जीव और मन का स्वभाव सुख की ओर गति करना है:

- हर जीव दुख से बचना चाहता है और सुख की खोज करता है—यह संसार का प्राकृतिक नियम है।
- साक्षी इस सहज खोज से कोई दुश्मनी नहीं रखता और न ही इसमें रुकावट बनता है।
- सुख आए या दुख का झंझावात, साक्षी दोनों को तटस्थ और पूरी तरह निर्लेप होकर केवल देखता रहता है।

2. 'आत्मवान' होना और सहने की अपार क्षमता

- साक्षी भाव में स्थित होने का अर्थ संसार से भागना या संवेदनहीन होना नहीं है; इसका अर्थ है स्वयं में टिककर 'आत्मवान' हो जाना।
- जब व्यक्ति आत्मवान हो जाता है, तो उसके भीतर अनुकूल और प्रतिकूल—दोनों परिस्थितियों को सहने की क्षमता (**Endurance & Equanimity**) कई गुना बढ़ जाती है।
- सुख उसे अहंकारी नहीं बनाता और दुख उसे तोड़ नहीं पाता; वह जीवन की हर धूप-छाँव को अपने केंद्र पर शांत खड़े रहकर सहज झेल जाता है।

"सुख की खोज जीव का प्राकृतिक स्वभाव है और साक्षी इस प्रवाह का निर्लेप दृष्टा है। साक्षी भाव में टिककर मनुष्य आत्मवान बन जाता है, जिससे उसके भीतर सुख और दुख दोनों को समता से सहने की अपार क्षमता जग जाती है।"

अध्याय 59

"संसार में मनुष्य अपनों के प्रेम, परिवार, नाते-रिश्तेदार और संबंधों के जाल में बुना रहता है। जब किसी प्रियजन से बिछोह (**Separation**) होता है या किसी आत्मीय की मृत्यु/दूरी होती है, तो मन गहरी पीड़ा, मोह और आंसुओं में डूब जाता है।

जब साक्षी शून्य के समान अचल और निर्लेप है—तब इन मानवीय संबंधों, प्रेम और बिछोह के दर्द का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या रिश्तों का बनना और टूटना भी केवल संसार के रंगमंच का एक नाटक मात्र है, जिसे साक्षी बिना किसी मोह या घृणा के केवल देखता रहता है, जबकि मन आंसुओं और मोह में उलझता है?"

संसार का रंगमंच और अछूता साक्षी

1. संबंधों का बनना और बिछोह का दर्द

संसार के रंगमंच पर रिश्तों का आना और जाना एक प्राकृतिक प्रवाह है:

- मनुष्य अपनों के प्रेम, परिवार, मोह और सम्बंधों के धागों में उलझता है।
- प्रियजन का बिछोह, दूरी या मृत्यु मन के धरातल पर अत्यंत पीड़ा, शोक और आंसू उत्पन्न करती है।
- यह मोह और बिछोह का दर्द मन की स्वाभाविक संवेदना है; मन इससे अछूता नहीं रह पाता।

2. निष्कंप और अछूता दृष्टा

- साक्षी भाव में स्थित होने का अर्थ कठोर या पत्थर हो जाना नहीं है, बल्कि मन के इस पूरे नाटक का पारदर्शी दृष्टा हो जाना है।
- प्रेम का उल्लास हो या बिछोह का गहन अवसाद—साक्षी इन दोनों अवस्थाओं के बीच निष्कंप खड़ा रहकर केवल सब देखता रहता है।
- जैसे रंगमंच (**Stage**) पर अभिनेता रोते और हँसते हैं, किंतु नाटक देखने वाला जानता है कि यह केवल एक दृश्य है; वैसे ही साक्षी जीवन के सारे सम्बंधों और उनके अंत को बिना किसी राग-द्वेष के केवल देखता रहता है।

"रिश्तों का बनना, मोह का जगना और बिछोह का दर्द—यह सब मन और संसार के रंगमंच का खेल है। साक्षी इन तमाम आंसुओं, संवेदनाओं और सम्बंधों के बीच अछूता रहकर केवल सब देखता है।

अध्याय 60

"अध्याय 56 से 59 तक हमने देखा कि साक्षी की अचल उपस्थिति से जीवन में सहज शुद्धता आती है (अध्याय 56), देह के प्रयास अनिवार्य हैं पर साक्षी के प्रकाश में तामसिक वृत्तियों का अंत हो जाता है (अध्याय 57), साक्षी

भाव व्यक्ति को आत्मवान बनाता है जिससे सुख-दुख सहने की क्षमता बढ़ती है (अध्याय 58), और सम्बंधों तथा बिछोह के दर्द को साक्षी केवल देखता रहता है (अध्याय 59)।

अब इन 60 अध्यायों की परम-ऊँचाई पर पहुँचकर—'अंतिम परम-स्थिति और जीवन-मुक्ति' का महा-निष्कर्ष क्या है

क्या यह कहना ही इस 60 अध्यायों के महा-ग्रंथ का अंतिम निचोड़ है कि 'जीवन-मुक्त' व्यक्ति वह नहीं है जो संसार छोड़ दे या चमत्कार दिखाए, बल्कि वह है जो संसार के हर सुख-दुख, कर्म, प्रयास और मृत्यु के खेल को देखते हुए—अंदर से पूरी तरह खाली, मुदित और अचल साक्षी में टिककर जीवन को सहज पूरा करता है?"

जीवन-मुक्ति और सहज जीवन-यात्रा

1. सिद्धियों और त्यागी होने के भ्रम का अंत

संसार में जीवन-मुक्ति को लेकर अनेक भ्रांतियाँ फैलाई गई हैं:

- चमत्कार दिखाना, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ प्रदर्शन करना या गेरुए वस्त्र पहनकर जंगलों में भाग जाना जीवन-मुक्ति का प्रमाण नहीं है; यह केवल अहंकार और मन का नया रूप है।
- संसार छोड़कर भागना कायरता है, क्योंकि संसार से भागकर भी मन के विचार और वासनाएँ पीछा नहीं छोड़ती।
- जो भीतर से मुक्त है, उसे न तो किसी चमत्कार के प्रदर्शन की आवश्यकता है और न ही संसार से भागने का कोई ढोंग करने की।

2. खाली, मुदित और अचल साक्षी में स्थिति

- जीवन-मुक्त व्यक्ति की असली पहचान यह है कि वह अंदर से पूरी तरह 'खाली', शांत और मुदित (आनंदित) रहता है।
- वह संसार के हर सुख-दुख, कर्म, शारीरिक प्रयास और मृत्यु तक के पूरे खेल को एक निष्कंप, अचल और अलिप्त साक्षी की तरह देखता है।
- सुख आए तो वह अहंकारी नहीं होता, और दुख या पीड़ा आए तो वह टूटता नहीं; बल्कि अपने भीतर के अचल साक्षी में टिककर जीवन के हर थपेड़े को सहज रूप से सह जाता है।

"जीवन-मुक्त व्यक्ति चमत्कार दिखाने या संसार छोड़ने वाला नहीं, बल्कि वह है जो अंदर से पूरी तरह खाली और मुदित रहकर, सुख-दुख के हर थपेड़े को सहते हुए, अचल साक्षी भाव में अपनी जीवन यात्रा को अत्यंत सहजता से पूरा करे।

अध्याय 61

'अहंकार का अंतिम छलावा — गुरु, शिष्य और ज्ञान का प्रचार'

अध्यात्म और दर्शन के क्षेत्र में जब किसी व्यक्ति को गहरा बोध या शांति प्राप्त होती है, तो उसके भीतर यह इच्छा पैदा होने लगती है कि वह 'सत्य का प्रचार करे', 'दूसरों को जगाए', 'किताबें लिखे' या लोगों को दिशा दिखाए। संसार में इसे सबसे पवित्र काम माना जाता है।

"जब साक्षी पूरी तरह अचल, मौन और शून्य है जहाँ न कोई 'अज्ञानी' है और न ही किसी को 'सुधारने' की आवश्यकता—तब सत्य के प्रचार, दूसरों को जगाने या गुरु बनने की इस तीव्र इच्छा का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह 'सत्य को फैलाना है' या 'दूसरों को जगाना है' की निष्ठा भी सूक्ष्म रूप से मन का ही एक अंतिम छलावा और सूक्ष्म अहंकार नहीं है?

क्या जब तक व्यक्ति किसी दूसरे को 'अज्ञानी' मानकर उसे बदलने या सुधारने का प्रयास कर रहा है, तब तक वह साक्षी के उस निष्कंप शून्य से बाहर केवल मन के धरातल पर ही खेल रहा है?"

संसार का खेल और अलिप्त साक्षी

1. सुधार और प्रचार का प्रपंच

संसार में मन का अंतिम छलावा यही होता है कि वह 'दूसरों को जगाने' या 'सत्य फैलाने' का पवित्र आवरण ओढ़ लेता है:

- किसी को अज्ञानी मानकर उसे सुधारने की इच्छा रखना भी सूक्ष्म अहंकार और मन का ही एक खेल है।
- संसार अपनी गति से चल रहा है और मन तरह-तरह की भूमिकाएँ रचने में कुशल है—कभी संसार का, तो कभी ज्ञानी या गुरु का।
- साक्षी चेतना न तो किसी का गुरु बनती है और न ही किसी को बदलने या सुधारने की कोई योजना बनाती है।

2. निर्लेप दृष्टा और निष्कंप उपस्थिति

- जीवन एक निरंतर चलता हुआ खेल है, जिसमें कभी मनोरंजन है, कभी सुख की धूप है, तो कभी दुख की छाँव।
- साक्षी इन तमाम स्थितियों में पूरी तरह अलिप्त (Untouched) और निर्लेप रहता है।
- वह किसी भी घटना, भावना या प्रयास में उलझता नहीं, बल्कि अचल रहकर जो जैसा हो रहा है, उसे केवल देखता रहता है।

"जीवन के रंगमंच पर मनोरंजन, सुख-दुख और ज्ञान का प्रचार—सब केवल चलने वाले खेल हैं। साक्षी किसी खेल में उलझता नहीं; वह पूरी तरह अलिप्त और निर्लेप रहकर केवल सब देखता रहता है।"

अध्याय 62

"मनुष्य अक्सर वर्तमान में जीने की बात तो करता है, लेकिन उसका मन बार-बार अतीत की स्मृतियों (**Memories**), पुरानी घटनाओं, भूलों, खोए हुए अवसरों या पुरानी चोटों में लौट जाता है। वह पश्चाताप, उदासी या पुरानी यादों के जाल में फँसकर आज का सुख भी खो देता है।

जब साक्षी सदा वर्तमान क्षण में एक अचल शून्य की तरह उपस्थित है—तब अतीत की इन भारी स्मृतियों और यादों का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि स्मृति केवल मस्तिष्क (**Brain**) में पड़ी हुई एक पुरानी रिकॉर्डिंग है, जिसे साक्षी बिना किसी राग-द्वेष के केवल देखता है? क्या अतीत में उलझना केवल मन की एक पुरानी आदत है, जबकि साक्षी को अतीत कभी छू भी नहीं पाता?"

अजन्मा-अमर आकाश और साक्षी-स्थिति

1. स्मृतियाँ: आकाश में तैरते बादल

अतीत की यादें, भूली-बिसरी बातें और पश्चाताप केवल मन के धरातल पर उठने वाले आवारा बादल हैं:

- जैसे आकाश में कभी घने काले बादल छा जाते हैं और कभी धूप खिल उठती है, वैसे ही मन में स्मृतियों का आना-जाना लगा रहता है।
- आकाश स्वयं कुछ नहीं करता, न ही वह बादलों के आने से गंदा होता है और न धूप से चमकता है; वह केवल सब कुछ अपने भीतर होने देता है।
- ठीक इसी प्रकार, साक्षी-रूपी चेतना में अतीत की सारी यादें और भावनाएँ तैरती हैं, किंतु साक्षी इनसे पूरी तरह असंग और निर्लेप बना रहता है।

2. न जन्म, न मृत्यु: परम शाश्वत सत्य

- शरीर और मन जन्म लेते हैं और कालक्रम में नष्ट हो जाते हैं, किंतु जिसके भीतर यह सब घटित हो रहा है, वह साक्षी चेतना कभी नहीं जन्मती और न कभी मरती है।
- साक्षी वह अनश्वर (**Immortal**) और असीम आकाश है जो हर काल, समय और परिस्थिति से परे सदा ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है।
- जब साधक को यह साक्षात् बोध हो जाता है कि वह बादल (मन/यादें) नहीं बल्कि असीम आकाश (साक्षी) है, तब वह सहज ही बिना किसी प्रयास के साक्षी भाव में अचल ठहर जाता है।

"स्मृतियाँ और यादें केवल आकाश में तैरते बादलों के समान हैं। साक्षी आकाश-तुल्य वह परम यथार्थ है जो न कभी जन्मा है और न कभी मरेगा। इस सत्य को जानते ही मनुष्य सहज साक्षी भाव में अचल ठहर जाता है।"

अध्याय 63

"जैसे-जैसे उम्र बढ़ती है, शरीर बूढ़ा होता है, इन्द्रियाँ कमजोर पड़ने लगती हैं, बीमारियाँ घेरती हैं और अंत में मृत्यु का क्षण करीब आता है। साधारण मन शरीर के क्षय और मृत्यु की आहट से डरकर घबराता है और जीवन को बचाए रखने के लिए छटपटाता है।

जब साक्षी आकाश की तरह अजन्मा और अमर है—तब शरीर के इस बूढ़े होने, बीमार पड़ने और टूटने का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि जरा (बुढ़ापा) और व्याधि (बीमारी) केवल वस्त्र के पुराने होने जैसी घटनाएँ हैं, जिन्हें साक्षी बिना किसी घबराहट या शोक के केवल देखता रहता है? क्या मृत्यु के क्षण में भी साक्षी पूरी तरह अछूता और निष्कंप बना रहता है?"

देह का क्षय और अमर साक्षी

1. देह का धर्म और स्वाभाविक प्रयास

शरीर का निर्माण प्रकृति के पाँच तत्वों से हुआ है और इसका अपना एक स्वभाव है:

- बुढ़ापे की कमजोरी, बीमारी या मृत्यु की आहट के समय देह और इन्द्रियाँ अपने बचाव के लिए प्रयास करेंगी ही।
- शरीर को बचाना, उसका इलाज करना और कष्ट को कम करने की चेष्टा करना देह का प्राकृतिक धर्म है; इनसे इंकार नहीं किया जा सकता।
- परंतु अज्ञानवश मनुष्य इन शारीरिक प्रयासों और पीड़ा को 'अपना दुख' मानकर घबराने लगता है।

2. अछूता और निष्कंप दृष्टा

- साक्षी शरीर के इन तमाम प्रयासों, पीड़ा, बीमारियों और जीर्णता को अचल रहकर केवल देखता है।
- जैसे नया कपड़ा पुराना होकर फटता है, वैसे ही शरीर का जीर्ण होना और अंत में छूट जाना केवल एक प्राकृतिक रूपांतरण है।
- साक्षी न तो बीमार होता है, न बूढ़ा होता है और न ही मरता है। वह मृत्यु के अंतिम क्षण में भी देह के छूटने को एक शांत और निष्कंप आकाश की भांति अछूता होकर केवल देखता रहता है।

"शरीर के तल पर स्वस्थ रहने और जीने के प्रयास स्वाभाविक हैं। परंतु साक्षी देह की जीर्णता, पीड़ा और मृत्यु की पूरी घटना से परे, अछूता और निष्कंप रहकर केवल देखता है।

अध्याय 64

"संसार में आए दिन अन्याय, अत्याचार, शोषण, बेईमानी और क्रूरता देखने को मिलती है। सज्जन लोग दुख भोगते हैं और दुर्जन पनपते हुए दिखाई देते हैं। यह देखकर साधारण मनुष्य का मन क्रोध, घृणा, छटपटाहट या समाज को सुधारने/बदला लेने की आग में जलने लगता है।

जब साक्षी इन सारे पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय और नैतिक-अनैतिक खेल को केवल एक शून्य की भांति देख रहा है—तब इस 'न्याय और अन्याय' का साक्षी के धरातल पर क्या यथार्थ बचता है?

क्या संसार का 'पाप और पुण्य' केवल मनुष्य के बनाए हुए सामाजिक और मानसिक पैमाने (Rules) हैं, जबकि प्रकृति और साक्षी के धरातल पर सब कुछ केवल एक विशाल नियति और खेल मात्र घटित हो रहा है?"

अध्याय तथाता भाव और असली भक्ति का उदय

1. ईश्वर-प्राप्ति की इच्छा भी एक विकार है

संसार में जिसे सर्वोच्च भक्ति माना गया, वह भी सूक्ष्म रूप से मन का ही एक खेल है:

- भगवान, मोक्ष, वैकुण्ठ या आनंद को पाने की इच्छा रखना भी अंततः एक इच्छा (Desire) ही है।
- जो व्यक्ति भविष्य में ईश्वर को पाना चाहता है, वह अप्रत्यक्ष रूप से इस वर्तमान क्षण में घटित हो रहे 'अस्तित्व' (Existence) को नकार रहा है।
- मीरा, चैतन्य या भावुक भक्तों का मार्ग भावनाओं का परम-सागर है, जहाँ सुख और आनंद की सूक्ष्म खोज बनी रहती है। यद्यपि इससे कोई शिकायत नहीं है, किंतु यह अंतिम 'तथाता' नहीं है।

2. तथाता (Total Acceptance) और साक्षी से समर्पण

- साक्षी भाव में ठहरने से मन के सारे उफान और भावनाएँ शांत हो जाती हैं, और 'तथाता भाव' का सम्यक उदय होता है।
- 'तथाता' का अर्थ है—अस्तित्व जैसा है, जहाँ है, जिस रूप में है, उसे बिना किसी शर्त, बिना किसी परिवर्तन की मांग के स्वीकार कर लेना।
- पाप-पुण्य, न्याय-अन्याय, सुख-दुख—सब प्रकृति के अपने नियम हैं। जब मन साक्षी बनकर इस पूरी प्रकृति के सामने नतमस्तक हो जाता है, तब कोई शिकायत या मांग शेष नहीं रहती।

"भगवान को पाने की इच्छा भी वर्तमान अस्तित्व का अनादर है। साक्षी भाव में टिकने पर जब 'तथाता' जागती है और व्यक्ति अस्तित्व के सामने पूरी तरह नतमस्तक हो जाता है, वही वास्तव में 'असली भक्त' कहलाने योग्य है।"

अध्याय 65

"जब तथाता भाव जाग जाता है और व्यक्ति अस्तित्व के प्रति पूर्णतः नतमस्तक हो जाता है—तब पूजने वाले (भक्त), पूजे जाने वाले (भगवान) और देखने वाले (साक्षी) के बीच का अंतर भी मिट जाता है।

इस ६५वें अध्याय के शिखर पर पहुँचकर—क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि 'असली भक्ति' कोई क्रिया या भावना नहीं, बल्कि वह स्थिति है जहाँ 'मैं' (अहंकार) पूरी तरह मिट जाता है और केवल एक अखंड शून्य और तथाता ही शेष रह जाती है?

क्या यहाँ पहुँचकर भक्त और भगवान दो अलग सत्ताएँ न रहकर केवल एक असीम अस्तित्व का ही रूप बन जाते हैं?"

तथाता और अद्वैत प्रकृति का लय

1. द्वैत के अंतिम भ्रम का अंत

संसार में ईश्वर और भक्त के दो अलग-अलग अस्तित्व मानने की भूल ही सारे भ्रमों की जड़ है:

- जब तक 'मैं भक्त हूँ' और 'वह मेरा भगवान है' का भाव है, तब तक द्वैत (**Two-ness**) बना हुआ है और अहंकार किसी न किसी रूप में जीवित है।
- तथाता भाव के उदय होते ही दो का भेद समाप्त हो जाता है; वहाँ न कोई माँगने वाला बचता है और न ही कोई देने वाला।

2. केवल प्रकृति ही शेष है

- जिसे लोग संसार, ईश्वर, जीव या साक्षी कहते हैं—तथाता के धरातल पर वह सब केवल 'प्रकृति' का ही विशाल प्रवाह है।
- जो है, जैसा है, वही प्रकृति है।
- जब साधक इस सत्य में पूरी तरह लीन होकर नतमस्तक हो जाता है, तो उसका पृथक अस्तित्व मिट जाता है और केवल अखंड अस्तित्व (प्रकृति) ही शेष रह जाती है।

"तथाता भाव में दो का कोई अस्तित्व नहीं रहता। भक्त और भगवान का भेद मिटकर केवल अद्वैत प्रकृति ही शेष रह जाती है। यही 'असली भक्त' का अंतिम विलप्रश्न

अध्याय 66

'कर्म, नियति (Fate) और अकर्ता भाव की अंतिम कसौटी'

संसार में सामान्य मनुष्य मानता है कि "मैं कर्म करने वाला (**Doer**) हूँ, मैं अपनी मेहनत से अपना भाग्य बदल सकता हूँ।" वहीं दूसरी ओर, धार्मिक लोग कहते हैं कि "सब कुछ ईश्वर की इच्छा या नियति (**Destiny**) से पहले से तय है।" इस द्वंद्व में मनुष्य जीवन भर 'स्वतंत्र इच्छा' (**Free Will**) और 'प्रारब्ध' के बीच झूलता रहता है।

"जब तथाता भाव में केवल एक अद्वैत 'प्रकृति' ही काम कर रही है और मनुष्य का अपना कोई पृथक 'मैं' या 'अहंकार' है ही नहीं—तब मनुष्य के द्वारा किए जाने वाले कर्मों में उसकी अपनी 'स्वतंत्र इच्छा' (**Free Will**) का क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह सोचना कि 'मैंने यह कर्म किया' केवल अज्ञान और अहंकार का ही भ्रम है?

क्या प्रकृति ही अपने गुणों के अनुसार सारे कर्म करा रही है, और साक्षी केवल इस अकर्ता (**Non-doer**) स्थिति का दृष्टा है जहाँ न कोई पाप का कर्ता है और न पुण्य का।

प्रकृति की लीला और अकर्ता साक्षी

1. बुद्धि का भेद और कर्मों का प्राकृतिक संचालन

संसार में दिखाई देने वाली विविधता और कर्मों का फल केवल प्रकृति के त्रिगुणों का खेल है:

- किसी की कम बुद्धि होना, किसी की अधिक बुद्धि होना, किसी का पुण्यात्मा होना या किसी का पाप में प्रवृत्त होना—यह सब प्रकृति की रचना और उसकी अपनी लीला है।
- मनुष्य का अहंकार व्यर्थ ही इन कर्मों का श्रेय या दोष अपने सिर पर लेता है; जबकि वास्तव में सारे कर्म प्रकृति के नियमों और स्वभाव के अनुसार ही घटित होते हैं।

2. शरीर का कर्म और अकर्ता साक्षी

- जब तक देह है, तब तक शरीर से कर्म घटित होते ही रहेंगे—चाहे वे लोक-दृष्टि में अच्छे हों या बुरे। देह कर्मों से मुक्त नहीं हो सकती।
- साक्षी चेतना न तो किसी कर्म की कर्ता है और न ही भोक्ता। वह पूरी तरह निर्लेप, तटस्थ और निष्कंप रहकर शरीर और प्रकृति द्वारा होने वाले इन तमाम कर्मों को केवल देखती रहती है।

"सारे कर्म और बुद्धि के भेद प्रकृति की लीला मात्र हैं। कर्म शरीर से घटित होते रहेंगे, जबकि साक्षी पूरी तरह अकर्ता रहकर इस पूरी लीला का निर्लेप दृष्टा बना रहता है।"

अध्याय 67

"धर्मग्रंथों और समाज में सदियों से स्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य के फल, वैकुण्ठ और पुनर्जन्म (**Reincarnation**) का भयंकर जाल बिछाया गया है। लोगों को मरने के बाद स्वर्ग का लालच और नरक की आग का भय दिखाकर बाँधा जाता है।

जब साक्षी अजन्मा, अमर और अचल आकाश-तुल्य है, और तथाता भाव में केवल एक अद्वैत 'प्रकृति' ही विद्यमान है—तब इन स्वर्ग, नरक, मोक्ष और पुनर्जन्म की अवधारणाओं का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरक की बातें केवल भयभीत मन की कल्पनाएँ और धार्मिक शोषण का साधन हैं, जबकि परम-सत्य के धरातल पर न कोई जन्म लेने वाला है और न ही किसी लोक में जाने वाला?"

काल्पनिक जाल और लीला-दृष्टि

1. स्वर्ग, नरक और धारणाओं का अंत

संसार में मन को बाँधने के लिए अनेक अवधारणाएँ गढ़ी गई हैं:

- स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, पाप-पुण्य के भय और मोक्ष के लालच केवल अज्ञानी मन की कल्पनाएँ और शोषण के साधन हैं।
- सत्य और झूठ की परिभाषाएँ गढ़ना भी मन का ही एक बौद्धिक खेल है; परम-सत्य के धरातल पर इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं बचता।

- जो साक्षी में स्थित हो गया, उसके लिए ये तमाम धार्मिक ग्रंथ, मोक्ष के दावे और भयभीत करने वाले सिद्धांत पूरी तरह निष्प्राण और व्यर्थ हो जाते हैं।

2. निष्कंप साक्षी और अद्वैत लीला

- साक्षी भाव में टिका हुआ व्यक्ति जीवन के हर दृश्य को—चाहे वह जन्म हो, मृत्यु हो, धर्म हो या अधर्म—केवल एक 'लीला' (**Game/Play**) की तरह देखता है।
- वह जानता है कि रंगमंच पर जैसे पात्र तरह-तरह के अभिनय करते हैं, वैसे ही संसार में प्रकृति की लीला चल रही है।
- वह किसी धारणा से चिपकता नहीं, किसी 'सत्य-झूठ' के खेल में उलझता नहीं, बल्कि अचल और निर्लेप रहकर पूरी लीला का शांत दृष्टा बना रहता है।

"स्वर्ग, नरक, पुनर्जन्म और सत्य-झूठ की परिभाषाएँ मन का काल्पनिक जाल हैं। साक्षी भाव में टिकने पर संसार की हर घटना केवल एक लीला बनकर रह जाती है, जिससे साक्षी अलिप्त रहता है।

अध्याय 68

"मनुष्य जीवन भर शब्दों, शास्त्रों, चर्चाओं, तर्कों, भाषा और विचारों में सत्य की खोज करता रहता है। वह समझता है कि बोलकर, लिखकर या सोचकर वह परम-सत्य को समझ लेगा या समझा देगा।

जब साक्षी पूरी तरह निःशब्द, मौन और विचारों से परे (**Beyond Mind & Words**) एक शून्य की तरह विद्यमान है—तब इन सारे शब्दों, सिद्धांतों, शास्त्रों और बोलने का साक्षी के सामने क्या यथार्थ बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि शब्द केवल मन के इशारे हैं, और जहाँ वाणी शांत हो जाती है, जहाँ विचार ठहर जाते हैं—वही मौन ही साक्षी का वास्तविक घर है?"

सुख-शांति की खोज और साक्षी का परम-विश्राम

1. जीव की मूल खोज और शास्त्रों की सीमा

संसार के सारे शास्त्रों और प्रयासों का केंद्र एक ही है:

- प्रत्येक जीव—चाहे वह भौतिक तल पर हो या मन के तल पर—केवल सुख और शांति पाना चाहता है।
- ऋषियों, मुनियों और वेद-शास्त्रों ने मन की गुत्थियों को सुलझाने और इस शांति को पाने के अनेक मार्ग खोजे।
- परंतु जब तक शांति को मन के तल पर या किसी साधन से पाने की कोशिश की जाएगी, तब तक मन की दौड़ और विवाद समाप्त नहीं हो सकते।

2. गौण शास्त्र और परम-शांति

- साक्षी भाव में छिपी शांति किसी साधन या खोज का परिणाम नहीं है, वह चेतना का अपना नित्य-सिद्ध स्वभाव है।
- साक्षी भाव में प्रवेश करते ही मन की सारी खोज, सारे विवाद, मतभेद और सारे वेद-पुराण गौण (Secondary) हो जाते हैं।
- जहाँ साक्षी का अचल बोध है, वहाँ न कोई प्रश्न बचता है, न कोई समाधान, और न ही शांति को ढूँढने की कोई छटपटाहट। वहाँ केवल एक अखंड, निःशब्द और अगाध विश्राम शेष रह जाता है।

"प्रत्येक जीव सुख और शांति की खोज में भटक रहा है और वेद-शास्त्र इसी की चेष्टा हैं। परंतु साक्षी भाव की अचल शांति के आगे सारे शास्त्र और विवाद गौण हो जाते हैं; साक्षी में ही परम-विश्राम सिद्ध होता है।"

अध्याय 69

"साधारण मनुष्य 'खालीपन' (Emptiness/Loneliness) या अकेलेपन से बहुत डरता है। जब उसके पास कोई काम, विचार, मनोरंजन या कोई सहारा नहीं होता, तो वह उबने लगता है और अपने भीतर के खालीपन को भरने के लिए दुनिया की तरफ भागता है।

जब साक्षी पूरी तरह विचारों से खाली, अकिंचन और एक 'शून्य' (Void) की तरह स्थित है—तब इस 'शून्य' और 'खालीपन' का साक्षी के धरातल पर क्या यथार्थ है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि मन जिसे डरने वाला 'अकेलापन' समझता है, साक्षी में टिकते ही वही खालीपन 'परम-पूर्णता' (Totality) बन जाता है? क्या साक्षी का यह शून्य ही सब कुछ का अंतिम आधार है?"

खालीपन और भरेपन से परे साक्षी

1. खालीपन और भरेपन के आग्रह का अंत

अध्यात्म के मार्ग पर मन का नया छलावा यह होता है कि वह 'शून्य' या 'खालीपन' को पकड़ने की कोशिश करने लगता है:

- मन को खाली करना, विचारों को जबरन रोकना या अकेलेपन से भागना—यह सब मन के ही तल की कसरत और छटपटाहट है।
- साक्षी न तो यह कहता है कि 'खाली रहो' और न यह कहता है कि 'भरे रहो'।
- साक्षी के लिए स्थिति का 'खाली' होना या 'भरा' होना दोनों एक समान हैं; वह किसी भी अवस्था को न तो पकड़ता है और न खारिज करता है।

2. निष्कंप दृष्टा और अनवरत स्वतंत्रता

- मन भागे या शरीर क्रिया करे, संसार की दौड़ चले या शांति छा जाए—साक्षी को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता।
- साक्षी के आगे न कोई रुकावट (Obstacle) आ सकती है और न ही उसे किसी सहारे की आवश्यकता है।

- साक्षी वह परम-स्वतंत्र चेतना है जो मन के भागने, ठहरने, खाली होने या भरे होने की हर स्थिति को केवल अछूता रहकर देखती रहती है।

"साक्षी के लिए न कोई रुकावट है और न खालीपन का आग्रह। मन या शरीर के भागने व ठहरने से परे, साक्षी केवल निर्लेप और तटस्थ रहकर सब देखता है।"

अध्याय 70

"मनुष्य जीवन भर साधना करता है, विचार करता है, ज्ञान अर्जित करता है ताकि अंत में किसी 'विशेष अवस्था' या 'परम-सिद्धि' को प्राप्त कर सके।

इस 70वें अध्याय के शिखर पर पहुँचकर—जब साक्षी भाव में न कोई साधना बची, न कोई लक्ष्य बचा, न खालीपन का आग्रह बचा और न ही कोई प्रयास बचा—तब इस संपूर्ण जीवन का अंतिम सार क्या बचता है?

क्या यह कहना ही अंतिम सत्य है कि सब कुछ जानकर भी बिल्कुल 'सामान्य और सहज' हो जाना, जो जैसा घटित हो रहा है उसे होने देना, और बिना किसी दावे या अहंकार के अपनी जीवन-यात्रा को पूरा करना ही 'परम-सिद्धि' और 'अंतिम बोध' है?"

सहज जीवन और अंतिम बोध की पूर्णता

1. सिद्धियों और विशेषताओं के भ्रम का अंत

संसार में मन का अंतिम मुगालता यही होता है कि वह खुद को 'विशेष' या 'सिद्ध' सिद्ध करना चाहता है:

- अलौकिक अनुभव, समाधियाँ और ज्ञान के दावे मन के ही सूक्ष्म खेल हैं जो व्यक्ति को साधारण होने से रोकते हैं।
- सच्चा बोध किसी चमत्कार में नहीं, बल्कि मन के सारे दावों और विशेष बनने की दौड़ के शांत हो जाने में है।

2. सहज जीवन ही परम-सिद्धि

- जब सारे प्रयास, खोज और छटपटाहट समाप्त हो जाती है, तब व्यक्ति बिल्कुल साधारण और सहज हो जाता है।
- जैसा जीवन मिला है, जैसी परिस्थितियाँ हैं, उनमें बिना किसी अहंकार या शिकायत के रहना और अपनी जीवन-यात्रा को निष्कंप साक्षी भाव में पूरा करना ही सर्वोच्च सिद्धि है।
- जीवन-यात्रा का यह सहज समापन ही ज्ञान की परिपक्वता और परम-विश्राम का प्रतीक है।

"विशेष होने के सारे दावे व्यर्थ हैं। साक्षी भाव में टिककर अपनी जीवन-यात्रा को सहजता और निष्कंपता से पूरा कर लेना ही परम-सिद्धि और अंतिम बोध है।"

70 अध्यायों का महा-ग्रंथ: 'असली भक्त'

अध्याय 1 से लेकर अध्याय 70 तक की यह महा-यात्रा अब सत्य, साक्षी और तथाता के उस निर्गुण और अद्वैत शिखर पर पहुँच चुकी है, जहाँ से आगे किसी तर्क, किसी प्रश्न और किसी व्याख्या की कोई आवश्यकता शेष नहीं रह जाती।

इन 70 अध्यायों के महा-मंथन ने 'असली भक्त' और 'साक्षी भाव' के जिस परम-यथार्थ को स्थापित किया है, वह कालजयी है।

॥ इति असली भक्त महाग्रंथः सम्पूर्णम् ॥